पाणिनि-प्रोक्त समाजव्यवस्थापरक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी.फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध-सार

गवेषक

रामचन्द्र पाण्डेय

निर्देशक

डॉ० कौशल किशोर श्रीवास्तव

उपाचार्य, संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

२००१
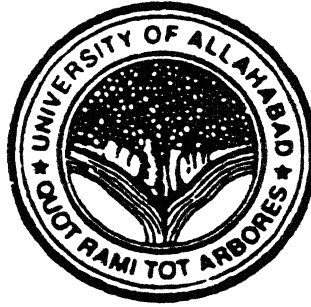
शोध प्रबन्ध-सार

शोध के निष्कर्षो तक पहुँचने के लिए जिस शोध प्रवृत्ति के अनुसार तथ्य विवेचन किया गया उसके स्वरूप दर्शन हेतु यह शोध यह शोध–प्रबन्ध–सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध सात सोपानों में निबद्ध है। तत्पश्चात् सहायक ग्रन्थों का बोध कराने वाली सूची भी संलग्न है।

प्रथम सोपान व्याकरण शास्त्र की परम्परा तथा आचार्य पाणिनि का जीवन चरित एवं काल निर्धारण है। व्याकरण शास्त्र की परम्परा के अन्तर्गत व्याकरण की परिभाषा एवं निष्पत्ति– "व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयोऽनेन अस्मिन् वा तद् व्याकरणम्" (वि+आङ्+कृ+ल्युट्) बताया गया है। इसके उपरान्त व्याकरण क्यों पढ़ना चाहिए इसके लिये प्रसिद्ध उदाहरण– "यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्। स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत।। का उद्धरण दिया गया है। व्याकरण की उत्पत्ति एवं प्राचीनता उपशीर्षक के अन्तर्गत बताया गया है कि– व्याकरण शास्त्र के विषय में यह एक विशेषता है कि सभी आचार्यो के द्वारा प्रकृति–प्रत्यय रूप विभाग की कल्पना समान रूप से की गयी है, हाँ भेद केवल इतना है कि किसी आचार्य ने शब्द विशेष की व्युत्पत्ति में अन्तर प्रदर्शित करते हुये किसी भिन्न धातु (प्रकृति) से भिन्न प्रत्यय की कल्पना करके उस शब्द का प्रणयन किया तथा अन्य आचार्य ने उसे किसी अन्य धातु एवं प्रत्यय से निष्पन्न किया। इसी के बाद यह स्पष्ट करते हुये कि व्याकरण शास्त्र का मूल रूप हमें ऋग्वेद के अन्तिम चरण से ही दृष्टिगत होता है और इसका उदाहरण १०/१२/५ आदि में है भी बताया गया है। व्याकरण शास्त्र की प्राचीनता को स्पष्ट करते हुये मैत्रायणी संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण के उदाहरण भी दिये गये हैं। संस्कृत वाङ्मय में इतस्ततः विकीर्ण व्याकरण विषयक सामग्री, यास्क के

निरुक्त, वेदों के विभिन्न प्रातिशाख्यों तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी में उद्धृत अनेक वैयाकरणों के विविध मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य पाणिनि से पूर्व वैयाकरणों की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। वैयाकरणों को तीन श्रेणियों में पूर्व पाणिनीय, पाणिनीय एवं उत्तर पाणिनीय में विभक्त किया गया है।

इसी प्रकार आचार्य के जीवन चरित एवं काल निर्धारण उपशीर्षक के अन्तर्गत पाणिनि के जन्म के विषय में प्रचलित विभिन्न जनश्रुतियों का उल्लेख किया गया है तथा उनके जन्मस्थान के विषय में भी तमाम स्थलों को निर्धारित करते हुये शलातुर की स्थिति को निश्चित किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में पाणिनि के समय और आपेक्षिक तिथि क्रम का उल्लेख किया गया है। पाणिनि के जीवनकाल का निर्धारण करने के लिये कई प्रकार के साक्ष्यों का सहारा लिया गया है। इसके अन्तर्गत भारतीय अनुश्रुति, साहित्यिक उल्लेखों की साक्षी, पाणिनि और दक्षिणी भारत, पाणिनि और बुद्ध एवं ज्योतिषीय काल गणना का साक्ष्य प्रस्तुत किया गया है। नन्दराज की अनुश्रुति, राजनैतिक सामग्री, यवनानी शब्द, पाणिनि और पर्शु, क्षुद्रक–मालव, पाणिनि और संघ राज्य, पाणिनीय मुद्राओं की साक्षी, मनुष्य नामों के आधार पर एवं जातकों के आधार पर काल निर्धारण किया गया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पाणिनि के जन्मस्थान शलातुर में जो जानकारी प्राप्त की थी उसका पतञ्जलि की सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन है।

द्वितीय सोपान अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित राजनीतिक जीवन में एकराज जनपद और संघों के सम्बन्ध में सामग्री का विवेचन है। पाणिनि के युग में संघों का बाहुल्य था। लोक में संघ आदर्श का सर्वोपरि प्रचार था यहाँ तक कि गोत्र, चरण, श्रेणि, निगम आदि सामूहिक संस्थाओं के संगठन और कार्यविधि की प्रेरणा संघ आदर्श से ही प्राप्त की जाती थी। तत्कालीन युग में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तन्त्र थे। राजा के लिये ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्दों का प्रयोग होता था। राजा की मन्त्रिपरिषद्

के अतिरिक्त बड़ी सभा राजसभा कहलाती थी। राजसभा के उदाहरणों के लिये भाष्य में दिये हुये चन्द्रगुप्त सभा, पुण्यमित्र सभा के नाम हैं। वैदिक युग में जिन रत्नी नामक अधिकारियों को राजकृतः कहा जाता था पाणिनि ने उनके लिये राजकृत्वा शब्द का प्रयोग किया है। राजा के पुत्रों को राजपुत्र एवं राजकुमार कहा जाता था। राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे– क. राजा चासौ कुमारश्च– बालक राजा, (ख) राज्ञः कुमारः अर्थात् राजा का कुमार पुत्र। समस्त राजपुत्रों में महिषी का ज्येष्ठ पुत्र युवराज होता था जिसे आर्यकुमार कहा जाता था। पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का उल्लेख किया है क. सामाजिक परिषद्, ख. चरणों के अन्तर्गत विद्या सम्बन्धी परिषद्, ग. राजनैतिक मन्त्रिपरिषद्। परिषद का सदस्य पारिषद या पारिषद्य कहलाता था। राजनीति से सम्बन्धित परिषद् वस्तुतः मन्त्रिपरिषद संस्था थी। जो राजनीति से सम्बन्धित परिषद् वस्तुतः मन्त्रिपरिषद संस्था थी। जो राजा परिषद् के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे, उनके लिये 'परिषद्वलो राजा' यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा में प्रयुक्त 'परिषद्वलो राजा' यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था। भारतीय राजतन्त्र में पट्टमहिषी या महिषी की वैधानिक स्थिति थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के साथ उसका भी महाभिषेक किया जाता था। पाणिनि ने महिषी का उल्लेख करते हुये उसे मिलने वाले धर्मतः प्राप्य या धर्म्य देय का उल्लेख किया है। माहिष और प्राजावत धर्म्यदेय वह पूजावेतन था जो समयाचार या क्रम प्राप्त बन्धेज के अनुसार पट्टमहादेवी और दूसरी रानियों को पाने का अधिकार था। पारिषद्य की ही तरह सभ्य शब्द भी सभा की सदस्यता के योग्य व्यक्ति के लिये था जिसके लिये वैदिक शब्द सभेय था। कौटिल्य के अनुसार मुख्यमंत्री के बाद पुरोहित के पद का महत्त्व होता था। और उसके बाद सेनापति का और तब युवराज का। अष्टाध्यायी में अषडक्षीण विशिष्ट शब्द है जिसका अर्थ है कि जिसे छः आँखों ने न देखा हो। यह शब्द राज्य की गोपनीय बातों के लिये प्रयुक्त होता था। आर्यो ब्राह्मण कुमारयोः सूत्र एवं राजा च के द्वारा पाणिनि ने आर्यब्राह्मण एवं

राजब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया है। राजकुल के प्रतीहारी परिचारक, अंगरक्षक, दौवारिक, स्वागतिक अधिकारी, इन सभी का वर्णन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है। शासन उपशीर्षक के अन्तर्गत शासनतन्त्र के अधिकारी यथा– अध्यक्ष, युक्त, कारकर और क्षेत्रकर आदि का तथा आयस्थान, शौण्डिक का भी विवेचन किया गया है। सेना उपशीर्षक के अन्तर्गत सेनानी, सैनिक, शस्त्रास्त्र, परिष्कन्द के बारे में भी शोध किया गया है। आयुधजीवी संघ, पर्वतीय संघ, श्रेणी, पूग, ग्रामणी, व्रात के बारे में भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विवरण दिया गया है।

तृतीय सोपान अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित समाज में सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित लगभग उन सभी बिन्दुओं को विवेचित करने का प्रयास किया गया है जो सामाजिक जीवन के अंग हैं। वर्ण एवं जाति, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय ब्रह्मचर्य की अवधि, ब्राह्मण सभी का विस्तृत विवेचन है। आचार्य पाणिनि ने ब्रह्मन् और ब्राह्मण दोनों शब्दों को पर्याय रूप में प्रयुक्त किया है। 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' सूत्र में 'बन्धुनि' पद ब्रह्मबन्धु वाले प्राचीन अर्थ अर्थात् कुत्सापरक व्यंग्य का द्योतक है। जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहचान हो वह बन्धु हुआ। नाम मात्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैण्य के लिये ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय जातीय और वैश्य जातीय पद व्यवहार में आते थे। लूटमार कर जीविका चलाने वाले जंगली हालत में आर्यावर्त की सीमाओं पर बसे हुये उत्सेधजीवी लोग पाणिनि के समय में व्रात कहलाते थे। ब्रह्मचारी, स्नातक, राजन्य, गृहपति, दासीभार, आर्यब्राह्मणकुमार आदि सामाजिक जीवन में वर्तमान, अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से तत्कालीन समाज को समझने का प्रयास किया गया है। स्त्री एवं विवाह, अन्न पान, सामाजिक संस्थायें, वस्त्र एवं अलंकार, परिवहन सम्बन्धी उपशीर्षकों में अनेक प्रकार की सामग्री का सन्निवेश है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में जिस प्रकार से शब्दों की व्याख्या दी गयी है वह नूतन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचायक है। स्त्री एवं विवाह उपशीर्षक के अन्तर्गत 'स्वकरण' शब्द को व्याख्यायित किया गया है। पाणिनि ने विवाह

के लिये उपयमन १/२/१६ शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या स्वकरण शब्द से इस सूत्र में की गई है। पति के द्वारा पत्नी का पाणिग्रहण किये जाने पर विवाह संस्कार सम्पन्न समझा जाता था, इसके लिये पाणिनि ने हस्तेकृत्य एवं पाणौकृत्य इन दो शब्दों का उल्लेख किया है, जो विवाह के पर्यायवाची थे– नित्यं हस्ते पाणावुपयने। पाणिग्रहण के द्वारा ही पति–पत्नी को अपनी बनाता था जिससे स्वकरण पद का विवाह के अर्थ में प्रयोग हुआ। नारी जीवन के अनेक क्षेत्रों का इस शोध प्रबन्ध में विवेचन किया गया है। कुमारी, पत्नी, माता, छात्रा, आचार्य आदि दशाओं में उसके जीवन की कुछ झाँकी तत्कालीन भाषा के शब्दों में आ गई। अन्नपान उपशीर्षक के अन्तर्गत अभिषव, संस्कृत, यवागू, नीवार, पयस्य या गव्य, संसृष्ट, व्यञ्जन और उपसिक्त, चूर्ण, ओदन, अपूप, षष्टिका, शालि, यवक कुल्माष, कषाय, महाव्रीहि, मिश्रीकरण, भोज्य, मैरेय, इक्षुवण शब्दों से तत्कालीन समाज के खान–पान की व्याख्या की गई है। सामाजिक संस्थायें उपशीर्षक के अन्तर्गत ज्ञाति, वंश, संयुक्त, सगोत्र, सपिण्ड, कुल, अतिथि, मित्र सनाभि, पारिवारिक कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। सपिण्ड सूत्र युग का विशिष्ट शब्द था, जो संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकों में नहीं मिलता हैं धर्मशास्त्रों के अनुसार पिता की सातवीं पीढ़ी और माता की पाँचवीं पीढ़ी तक के सम्बन्ध ी सपिण्ड कहलाते थे। सनाभि, समान नाभि के स्थान में आदेश होता है। नाभि का अर्थ गर्भनाल से समझना चाहिये। वस्त्र एवं अलंकार उपशीर्षक के अन्तर्गत वस्त्रों के विविध प्रकार, प्रावार, कम्बल, वृहतिका आदि की व्याख्या की गई है। ग्रैवेयक, अंगुलीय, कर्णिका, ललाटिका इन चार गहनों का सूत्रों में उल्लेख है। मौर्य–शुंग काल की भारतीय कला में ये अलंकार मिलते हैं। भूषण, अलंकार या सुभगंकरण से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी वर्णन किया गया है। परिवहन उपशीर्षक के अन्तर्गत तत्कालीन समाज के आने जाने के साधनों का विवेचन है– रथ, भस्त्रा, शकट, आश्वीन आदि। रथ विशेषकर मनुष्यों के आने जाने का यान था। रथों का समूह

रथ्या या रथकट्या कहलाता था। सेना में भी रथो का उपयोग होता था। रथ कई प्रकार के होते थे, जिनका नामकरण खींचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था। खींचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य कहा गया है, इतर साहित्य में इन दोनों को वाहन अर्थात् सवारी भी माना गया है। रथ मढ़ने के काम में बाघ और चीते के चमड़े भी प्रयोग किये जाते थे। भिन्न प्रकार के मार्गों में कौटिल्य ने रथ–पथ का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि वह रथ जो इतना मजबूत बना हो कि अच्छे रास्ते समान ही ऊबड़–खाबड मार्ग मे भी ले जाया जा सके। 'प्राध्वं बन्धने' गाड़ी और रथों के बनाने में अन्तिम प्रक्रिया थी जिसके द्वारा उन्हें रस्सी या डोरियों से कसा जाता था।

चतुर्थ सोपान अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित आर्थिक जीवन में तत्कालीन समाज की आर्थिक दशा का विवेचन किया गया है। कृषि एवं पशुपालन उपशीर्षक के अन्तर्गत कृषि कर्म, हलयति, वाप, क्षेत्रकर, लवनी, वृत्ति, वर्षा या प्राक्ट, उमा–भङ्गा, सीता, हल्प, व्रैहेय, शालेय आदि शब्दों के द्वारा तत्कालीन कृषि एवं पशुपालन को विवेचित किया गया है। क्षेत्रकर 'खेत बनाने वाला' यह उस अधिकारी की संज्ञा थी जो खेतों की नाप–जोख करता था। लवनी को अभिलाव कहते थें जो खेत कटाई या लवनी के लिये बिल्कुल तैयार हो वह लाव्य कहलाता था। लवनी दात्र या लवित्र से की जाती थी। आजकल खेतिहरों की भाषा में इसे लाव कहते हैं। बरसात को प्रवृट् और वर्षा कहा गया है। वर्षा के पूर्व भाग के लिये प्रावृट् विशिष्ट शब्द था। अष्टाध्यायी में उमा और भंगा का उल्लेख धान्य के प्रकरण में आया है। उमा और भंगा अर्थात् अलसी और भांग के खेतों का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने इसकी जगह अलसी एवं शण कहा है। सीता ऋग्वेद, उत्तरकालीन संहिताओं में कृषि के देवता और हल की कूँड़ या फाड़ के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक हल की जोत के लिये पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी। इसी प्रकार द्विहल्य, त्रिहल्य अर्थात् एक हल की माप से दो गुनी, तीन गुनी का भी उल्लेख है। वस्तुतः एक परिवार

के भरण पोषण के लिये पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे। मध्यकाल में इसे ही दोहली या डोहली कहा जाने लगा। व्रीहि एवं शालि के खेत पृथक–पृथक् होते थे जो व्रैहेय एवं शालेय नामों से पहचाने जाते थे। व्यपार एवं वाणिज्य उपशीर्षक के अन्तर्गत वाणिज, आपण, व्यवहार, मूल और लाभ, शुल्क, साई या सत्यापन जैसे शब्दों के द्वारा तत्कालीन व्यापार–वाणिज्य को विवेचित किया गया है। व्यापारियों के लिये वणिक् और वाणिज ये दोनों शब्द प्रयुक्त होते थे। व्यापारियों के नाम कई कारणों से पड़ते थे उनके व्यवसाय की विशेषता से, व्यापार की वस्तुओं से, पूँजी के आधार पर अथवा वे जिन देशों से वाणिज्य करते हों उनके नाम से। सूत्रों मे इन सब का उल्लेख यथा स्थान किया गया है। मुद्रायें उपशीर्षक के अन्तर्गत कई प्रकार की– सोने, चाँदी और तॉबे की मुद्राओं का विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है। बाजार में माल खरीदने के लिये सिक्कों का चलन आम बात थी, लेकिन पाणिनि काल में वस्तु विनिमय ही व्यापार का मुख्य साधन होती थी। वस्तुओं का मूल्य दुकानदार और ग्राहकों के बीच सिक्कों में ही चुकाया जाता था। निष्क, विंशतिक, त्रिंशत्क, शतमान, कार्षापण, पण, पादकार्षापण, शाण, अर्धकार्षापण, सुवर्ण-आदि मुद्रा के शब्दों का परिचय हमें अष्टाध्यायी से प्राप्त होता है। इन समस्त शब्दों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में की गई है। निष्क वैदिक युग में एक आभूषण था जो सोने का बना होता था, बाद के युगों में निष्क नियत मुद्रा बन गई थी। द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् सूत्र से निष्क के प्रचलित सिक्का होने की पुष्टि हो जाती है। पाणिनि के समय में सौ निष्क की हैसियत वाला नैष्कशतिक और सहस्र निष्क वाला नैष्कसाहस्रिक कहलाता था। प्राचीन भारतवर्ष का सबसे प्रसिद्ध सिक्का चाँदी का कार्षापण था। इसे ही पाणिनि ने आहत कहा है। अष्टाध्यायी के निष्कादिगण ५/१/२० तथा अलग सूत्र ५/१/३४ में भी जो माष शब्द आता है उससे दोनों स्थानों में शैय्य कार्षापण वाले माष का ग्रहण करना चाहिए। पाणिनि ने स्पष्टतः सुवर्ण माष का उल्लेख कहीं नहीं किया है।

पञ्चम सोपान 'अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित धर्म एवं दर्शन' है। अष्टाध्यायी में जिस धार्मिक अवस्था का चित्र है, उसका मुख्य आधार यज्ञ विधि और देव पूजा थी। यज्ञ, ऋत्विज्, दक्षिणा एवं देवता और उनकी भक्ति से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री सूत्रों में आ गई है। यज्ञों का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोगों के सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने किया है। पाणिनि ने भी याज्ञिकों के आम्नाय और धर्म को याज्ञिक्य कहा है। याज्ञिक साहित्य एक ओर यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विशाल ब्राह्मण और अनुब्राह्मण साहित्य था दूसरी ओर क्रतु या सोम यज्ञ एवं दूसरे यज्ञ या इष्टियों के व्याख्यान ग्रन्थ भी बनाये गये थे। जब तक यज्ञ की अवधि रहती तब तक के लिये मुख्यकर्ता की संख्या यजमान होती थी। यज्ञ की समाप्ति पर वह अपने उस यजन के अधिकार से यज्वा कहलाता था। विशिष्ट यज्ञों के आधार पर उसके लिये अग्निष्टोमयाजी आदि विशेषण प्रयुक्त होते थे। ब्राह्मणों में सामाजिक प्रतिष्ठा आस्पद कहलाती थी– 'आस्पदं प्रतिष्ठायां ६/१/१४६'। यज्ञों के आधार पर आस्पदों की प्रसिद्धि होती थी, जैसे– बाजपेयी, अग्निहोत्री आदि। जो श्रोताग्नियों का आधान करके उनकी परिचर्या करता था उसे आहिताग्नि कहते थे। विशेष यज्ञों में पाणिनि ने अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम और आयुष्टोम का उल्लेख किया है। पाणिनि ने दीर्घसत्र यज्ञों का भी उल्लेख किया है, जो सौ या सहस्र वर्ष के दीर्घकाल तक चलते थे। सोम अभिषव सुत्या कहलाता था ३/३/९९। जिस यजमान ने सोम का अभिषव किया होता वह यज्ञ हो जाने पर सुत्वा इस विरुद से प्रसिद्ध होता था, जैसे यज्ञ कर्ता के लिये यज्वा था। सोमपान करना कुछ आर्थिक सुविधा और आध्यात्मिक तैयारी पर निर्भर था, जिसमें सोमपान करने की इस प्रकार की योग्यता या अर्हता हो सोम्य कहलाता था। जो अग्नि आहुति को देवों के समीप ले जाता है, उसकी संज्ञा हव्यह्व्न हन और जो पितरों के पास ले जाता है उसे कव्यवाहन कहते हैं। वेदि में अग्नि प्रज्वलित करने की तीन अवस्थाओं के लिये तीन शब्द भाषा में थे– परिचाय्य, समूह्य। वेदि की भूमि पर भिन्न–भिन्न वेदियां या हवनकुण्ड

बनाये जाते थे प्रत्येक की अपनी आकृति होती थी। सोम पीने के पात्र या सोमग्रहों का जोड़ा रखा जाता था। यज्ञ के सब पुरोहित ऋत्विज् कहलाते थे ३/२/५६। ऋत्विक् कर्मों के कराने में दक्ष कर्म कर्ता आर्त्विजीन कहलाते थे। जो जिस यज्ञ या विधि में विशेष निपुणता प्राप्त करता था उसे विशेषज्ञ के रूप में उसी यज्ञ के लिये आमन्त्रित करते थे। ऋत्विक् संख्या, ऋत्विजों के पृथक् कर्म, मन्त्रकरण, उपयज्, दक्षिणा, स्रौव सम्बन्ध का भी विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विस्तृत विवेचन है। ऋत्विज् और यजमान के बीच का सम्बन्ध गुरू–शिष्य या पिता–पुत्र जैसा ही घनिष्ठ माना जाता था।

पाणिनीय सूत्रों में निम्नलिखित वैदिक देवताओं का उल्लेख मिलता है– सूर्य ३/१/११४, अग्नि ४/१/३७, इन्द्र ४/१/३७, वरूण ४/१/३७, भव ४/१/३७, शर्व ४/१/३७, रूद्र ४/१/३७, वृषाकपि ४/१/३७, मृड ४/१/४६ अपानप्तृ ४/२/२७, महेन्द्र ४/२/२६, सोम ४/२/३०, वायु ४/२/३१, नासत्य ६/३/७५, त्वष्टा ६/४/११, अर्यमा ६/४/१२। धार्मिक जीवन में चान्द्रायण आदि व्रतों का समावेश हो चुका था। जिसने अपने जीवन में चान्द्रायण व्रत किया हो वह चान्द्रायणिक नाम से प्रसिद्ध होता था। कव्यवाहन अग्नि में पितरों के लिये अन्न की आहुति दी जाती थी। पितरों को देवता कहा गया है। सास्य देवता मानकर उन्हें जो हवि दी जाती उसे पित्र्य हवि कहते थे।

लगभग दशवीं शती ई.पू. से पाँचवीं शती ई.पू. तक महाजनपद युग भारतवर्ष में अभूतपूर्व ज्ञानमन्थन का काल था। इसी समय कई शास्त्रों की नयी उद्‌भावना हुयी, जिसे पाणिनि ने उपज्ञात साहित्य कहा है। पाणिनि ने जानाति इति ज्ञः इस अर्थ में ज्ञः को स्वतन्त्र शब्द माना है, सांख्य में इसे ही 'पुरूष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते हैं। परलोक और पारलौकिक जीवन की सिद्धि इसी जीवन में तप आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती थी।

षष्ठ–सोपान 'अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित शिक्षा एवं साहित्य' है। पाणिनीय व्याकरण की रचना भाषा और साहित्य के क्षेत्र में पूर्ववर्ती दीर्घविकास और उन्नति की सूचक है। उस उन्नति के मूल में वह सुन्दर शिक्षा प्रणाली थी जो महाफलवती हुई। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में तत्कालीन विभिन्न साहित्यिक रूप, ग्रन्थ रचना के प्रकार, शिक्षा संस्थाएं, आचार्य और अन्तेवासी छात्र शिक्षण प्रणाली, अध्ययन के विषय आदि के सम्बन्ध में बहुत सी मूल्यवान सामग्री पर विवेचन किया गया है। शिक्षा उपशीर्षक के अन्तर्गत कुत्सित छात्र के बारे में लिखा गया है। नियमों का उल्लंघन करने वाले छात्रों की निन्दा के लिये कई शब्द प्रयुक्त होते थे, जेसे– तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक जो तीर्थ या गुरू में कौए की तरह चञ्चल व्यवहार करे। इसी प्रकार खट्वारूढ़ शब्द उस छात्र के लिये प्रयुक्त होता था जो समय से पहले ही ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके आराम का जीवन व्यतीत करने लगा हो। पाणिनि ने चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है– क. आचार्य, ख. प्रवक्ता, ग. श्रोत्रिय, घ. अध्यापक। आचार्य का स्थान सर्वोच्च था। शिष्य का उपनयन कराने का अधिकार आचार्य को ही था। आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था। प्रोक्त साहित्य अर्थात् शाखा ग्रन्थ, ब्राह्मण, श्रोतसूत्र आदि साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। इन्हें आख्याता भी कहा जाता था। छन्द या वेद की शाखाओं को कण्ठस्थ करने वाला विद्वान् श्रोत्रिय कहलाता था। 'कृते ग्रन्थे' या 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्रों से जिस साहित्य का उल्लेख किया गया है, उस वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यापन कराने वाले गुरू अध्यापक कहलाते थे। शिक्षा संस्था में अध्ययन के दिन अध्याय कहलाते थे। 'अध ीयतेऽस्मिन् इति अध्यायः' इसी व्युत्पत्ति के आधार पर अनध्याय वह दिन था जिस दिन अध्ययन बन्द रहे। पाणिनि और पतञ्जलि दोनों ने वैदिक चरणों में अध्ययन करने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया है। चरण उस प्रकार की शिक्षा संस्था थी जिसमें वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था और जिसका नाम मूल संस्थापक के नाम से पड़ता था।

छात्रों के नामकरण के तीन आधार थे १. अध्ययन के विषय के अनुसार, २. जिस चरण में शिक्षा पाते हों उसके अनुसार ३. जिस गुरू के यहाँ या जिसके ग्रन्थ पढ़ते हों उसके अनुसार। वैदिक छात्रों का नामकरण चरणों के अन्तर्गत भिन्न–भिन्न छन्द या शाखा ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर छन्द ग्रन्थों के नाम से किया जाता था। पारायण विधि द्वारा वेद, वेदाङ्गों को कण्ठस्थ कर लेना शिक्षण विधि का एक अंग था, इससे तत्कालीन ज्ञान साधन के यत्नों का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदों को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से सन्तुष्ट हो जाने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। मौलिक चिन्तन और सामग्री के संकलन एवं विश्लेषण से जिन नये शास्त्रों की उद्‌भावना की जाती थी, उन्हें पाणिनि ने उपज्ञात कहा है। शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी। इसमें न केवल शिक्षा बल्कि ज्ञान सञ्चय की चर्चा या आन्तरिक जीवन के निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरू और शिष्य विद्या सम्बन्ध से परस्पर बँधे होते थे, यह सम्बन्ध भी योनि सम्बन्ध के सदृश ही पवित्र और प्रभावपूर्ण था। छात्र दो प्रकार के होते थे १. दण्डमाणव, २. अन्तेवासी। दण्डमाणव को केवल माणव कहा जाता था। पतञ्जलि ने लिखा है कि वेद की पढ़ाई शुरू होने के पहले छात्र की माणव संज्ञा होती थी। मनसा, वाचा, कर्मणा आचार्य के समीप पहुँच हुआ ब्रह्मचारी अन्तेवासी इस अन्वितार्थ पदवी को धारण करता था। उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति वृत्त कहलाती थी। देवदत्त ने कहाँ तक पढ़ा है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता था कि वृत्तो गुणो देवदत्तेन अर्थात् देवदत्त ने व्याकरण में गुण प्रकरण पढ़कर समाप्त कर लिया है।

साहित्य उपशीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रकथन के विषय में विवेचन है। एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है। यह एक प्रकार की आशु कविता थी। काशिका से हमें ज्ञात होता है कि गाथाकार से तत्काल कविता करने की आशा की जाती थी। पाणिनि के

समय मे लिपि का ज्ञान या प्रचार इस देश में था या नही। यह पश्चिमी लेखकों के विवाद का विषय है। तत्कालीन शिक्षा पद्धति मौखिक पारायण पर आश्रित थी, लिखित ग्रन्थों का अधिक प्रचलन नहीं था, लेकिन यह कहना कि लिपि का ज्ञान ही लोगों को नहीं था, तथ्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। आचार्य पाणिनि ने समस्त साहित्य को इष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यान इन रूपों में बाँट दिया है। ऋषियों ने जिस साहित्य का प्रत्यक्ष किया था, उसे इष्ट वर्ग में रखा जा सकता है। धार्मिक और लौकिक विषयों के फुटकर ग्रन्थों पर विरचित ग्रन्थ व्याख्यान श्रेणी के साहित्य के अन्तर्गत आते थे। कृत श्रेणी के साहित्य में साधारण ग्रन्थों का समावेश किया गया जिनका नामकरण या तो उनके विषय से– 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' या लेखक के नाम 'कृते ग्रन्थे' से होता था। अनुष्टुप् श्लोक और उसके साथ श्लोककार कवि के उदय का फल यह हुआ कि शीध्र ही काव्य और नाटक रूपी साहित्य का जन्म होने लगा। यह सब साहित्य कृत कोटि का था। प्रोक्त साहित्य वह साहित्य था जिसके निर्माण में वैदिक चरणों के संस्थापक ऋषियों ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत छन्द ग्रन्थ अर्थात् वेदों की पृथक्–पृथक् शाखाएं थीं। प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि ने दो प्रकार के सूत्र ग्रन्थों का विशेष उल्लेख किया है अर्थात् पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षुसूत्र और शिलालिन् एवं कृशाश्व के नटसूत्र। उपज्ञात कोटि में उस साहित्य का परिगणन था जिसका किसी विशिष्ट आचार्य ने पहली बार आविर्भाव किया हो। इस प्रकार के प्रयत्न को आद्य आचिख्यासा कहते थे। प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत ही उपज्ञात संज्ञक विशेष साहित्य था। छन्द या शाखा ग्रन्थ केवल प्रोक्त थे, उपज्ञात नहीं, क्योंकि प्रवचनकर्ता ऋषियों ने कुछ नयी मौलिक सूझ से उन वैदिक ग्रन्थों का आविर्भाव नहीं किया था। पाणिनि का ग्रन्थ प्रोक्त भी था एवं उपज्ञात भी।

सप्तम सोपान 'अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित भूगोल' में तत्कालीन भौगोलिक सामग्री का अध्ययन किया गया है। अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

पाणिनि ने जिस शब्द सामग्री का सञ्चय किया है। उसमें देश, पर्वत वन, नदियां प्रदेश, जनपद, नगर, ग्राम इनसे सम्बन्धित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री का संग्रह सूत्रकार की मौलिक सूझ थी। भौगोलिक सीमा विस्तार उपशीर्षक में देश और जनपद के द्वारा सूत्रों मे पठित निश्चित स्थान नामों की सहायता से पाणिनि कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। काशिकाकार ने लिखा है कि एक जनपद की सीमा दूसरा जनपद ही हो सकता है, गॉव नहीं। संस्कृत भाषा का यह नियम है कि जनपदवाची नाम सदा बहुवचन में आते हैं जैसे— पञ्चालाः, कुरवः, मत्स्याः, अंगाः, वंगाः, मगधाः आदि। अष्टाध्यायी में आये हुये जनपदों की पहचान करके उनकी स्थिति निर्धारित करने का प्रयास प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में किया गया है जैसे— सौवीर—वर्तमान काल के सिन्ध प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कॉठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरूव (संस्कृत रौरूक) वर्तमान रोडी है। यहाँ पुराने शहर के भग्नावशेष हैं। रोड़ी के उस पार सिन्धु के दाहिने किनारे का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है जिसका पुराना नाम 'शार्कर' था, जो पाणिनि के शर्करायाः वा ४/२/८३ सूत्र में आया है। इसी प्रकार मद्रकार, गन्धार, मगध, सूरमस, कलिंग, कोशल, अजाद, कुरु, प्रत्यग्रथ, साल्व, साल्वायव, उदुम्बर, तिलखल, युगन्धर, भूलिंग, शरदण्ड, अश्मक, कलकूट, कम्बोज, अवन्ति, कुन्ति, भौरिकि, कापिशी, काशि, उशीनर, मद्र, वृजि, कच्छ, भारद्वाज, रंकु, सिन्धु, ब्राह्मणक, प्रकण्व, पारस्कर, हास्तिनपुर, केकय, अम्बष्ठ एवं त्रिगर्त देश जनपदों के बारे मे विवेचन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर में कम्बोज, दक्षिण में अश्मक, पश्चिम में सौवीर और पूर्व में सूरमस इन चारों कोनों के बीच का भू—प्रदेश पाणिनि की भौगोलिक परिधि के अन्तर्गत था। इतना स्पष्ट है कि पाणिनि का परिचय प्राच्य की अपेक्षा उदीच्य के भूगोल से अधिक घनिष्ठ था। नदी उपशीर्षक के अन्तर्गत पाणिनि ने देश में बहने वाली प्रमुख एवं छोटी नदियों का भी परिचय कराया है जिसका प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में विस्तृत ढंग से विवेचन किया गया है। भिद्य एवं उदध्य,

विपाश, सुवास्तु, सिन्धु, रथस्या, अजिरवती, शरावती, सरयू, देविका, चर्मण्वती, रूमण्वत् आदि नदियो के विषय में अध्ययन किया गया है। नगर और ग्राम उपशीर्षक से नगरों एवं ग्रामो का परिचय मिलता है। जनपद की भौगोलिक इकाई के अन्तर्गत मनुष्यों के रहने के स्थान नगर और ग्राम कहलाते थे। इनसे छोटे स्थानों को घोष और खेड कहा जाता था। कच्छ, अग्नि, गर्त, नगर आदि शब्दों का विवेचन है। भारतीय स्थान नामों के अन्त में जो शब्द आते हैं उनका भी परिचय कराया गया है– तीर्थ, रूप्य, प्रस्थ, वह, पुर, पलद, ह्रद, कूल, सूद, स्थल, कर्ष आदि। सूत्रों में परिगणित स्थान का भी उल्लेख आया है। ऐषुकारिभक्त के विषय में बताया गया है– उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरू जनपद में इषुकार या इसुकार नामक समृद्ध, सुन्दर और स्फीत नगर था। जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम असिका था, उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम ऐषुकारि ज्ञात होता है। यद्यपि कुछ लोग उसका सम्बन्ध अरबी हिसार (किला) से लगाते हैं। संकल, सौवास्तव, वार्णव, रोड़ी, वरणा, शर्करा, आसन्दीवत् नड्वल, शिखावल, कत्रि, कपिशी, शलातुर, तक्षशिला, कूचवार, कास्तीर और अजस्तुन्द, घोष, महानगर, नवनगर, अरिष्टपुर, गौड़पुर, हास्तिनपुर, फलकपुर, मार्देयपुर, चिहणकन्थ आदि स्थानों का गहन् अध्ययन करके उनका परिचय करया गया है।

📖📖📖📖📖

पाणिनि-प्रोक्त समाजव्यवस्थापरक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी.फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

गवेषक

रामचन्द्र पाण्डेय

निर्देशक

डॉ० कौशल किशोर श्रीवास्तव

उपाचार्य, संस्कृत- विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

२००१
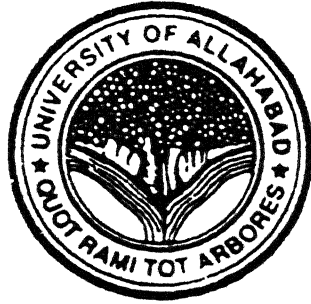
वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।

मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।।

-श्रीराम चरित मानस, बा.का.१

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक्

विश्व के इस विशाल क्रीडाङ्गन में कोटि–कोटि चराचर प्राणियो के विविध आकार, भाषा वेश और व्यवहार को देखकर हरहराती हुई द्रुतगामिनी शैलापगाओं को अपने क्रोड से प्रवाहित करने वाले, लक्ष–लक्ष वनस्पतियों और हिमराशियों से मण्डित, अनन्त रहस्यों के आकरभूत, गगनचुम्बी भूधरों को देखकर, अपनी उत्ताल दुर्दान्त तरंगों से ताण्डव करते हुए अनवगाह्य अगाध नीलसागर को देखकर तथा निशीथ में नक्षत्रमाला खचित अनन्तनीलाकाश को देखकर सहृदय कवियों एवं विज्ञानियों का मन एक साथ आकर्षित होता है। विज्ञानी अपने ज्ञान को इन रहस्यों को जानने में संलग्न करता है जबकि कवि इस प्रकृतिक सुषमा को देखकर अपनी लेखनी से समाज के प्रत्येक विन्दुओं पर ध्यान देते हुए वाङ्मय की रचना करता है। इसीलिए कहा जाता है कि समस्त लिपिबद्ध मानव चेष्टा ही वाङ्मय है जबकि काव्य सहृदय हृदय संवेद्य होता है। **'वाचः विकारः स एव वाङ्मयम्'** कहा जाता है। यहीं से व्याकरण का कार्य शुरु होता है। व्याकरण भाषा में एवं लोकों में प्रचलित शब्दों के आधार पर नियमों का निर्माण करता है।

व्याकरण भाषा का मेरुदण्ड है। वेदाङ्गों में उसका स्थान सर्वोपरि है– : **'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'।** शुद्ध उच्चारण, पूर्ण अर्थ–बोध एवं सम्यक् अभिव्यक्ति की दृष्टि से व्याकरण की सत्ता तथा महत्ता सर्वथा अक्षुण्ण है। वेद से लेकर आज तक सम्पूर्ण साहित्य का यथार्थवोध व्याकरणाधीन है। व्याकरण के क्षेत्र में शोध प्राचीन ज्ञान का नूतन ज्ञान से सामञ्जस्य स्थापित करता है।

विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सुव्यवस्थित पूर्ण और वैज्ञानिक नहीं है जितना संस्कृत भाषा का। संस्कृत व्याकरण परम्परा का अध्ययन प्राचीन है, जिसकी चरम परिणति पाणिनीय अष्टाध्यायी में देखने को मिलती है। लोक ही व्याकरण का सबसे महान् आवपन या थैला

है। जो शब्दों के अपरिमित भण्डार से भरा रहता है, उस लोक के प्रति आचार्य पाणिनि की बढ़ी हुयी निष्ठा एवं श्रद्धा थी। लोक प्रमाण जिसे संज्ञा प्रमाण कहा गया है के आधार पर ही आचार्य ने अपने महान् शास्त्र की रचना की। लोक के विषय में पाणिनि की गाढ़ी श्रद्धा ही अष्टाध्यायी की बहुमुखी सांस्कृतिक सामग्री का सेतु है। इस दृष्टि को लेकर आचार्य के नेत्रों में अभूतपूर्व तेज भर गया था। गुप्त–प्रकट जो शब्द सामग्री जहॉ थी वह सब उन्हें उस प्रकार से प्रतिभासित हो गई जैसी पुराकाल के अन्य किसी आचार्य को नहीं हुयी थी। शब्दों की खोज में लोक का तिल–तिल परिचय, जिसे व्याख्याकारों ने सूक्ष्मेक्षिका कहा है, पाणिनीय कार्य शैली की विशेषता थी और इसी से सर्वाङ्ग पूर्ण शास्त्र का जन्म हुआ। वैयाकरण के लिये महाभारत में लिखा है–

''सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शीभवेन्नरः।''

महाभारत उद्योग पर्व ४३/३६ सब अर्थों का -व्याकरण विवेचन, निर्वचन, प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् स्पष्टीकरण एवं इसका प्रयत्न करना ही वैयाकरण का कार्य है। सर्वार्थ शब्द की व्यञ्जना दूर तक है, इसमें जो जितनी अधिक सामग्री भर सके वही उसकी सफलता है। पाणिनि ने लोक में प्रचलित अनेक अर्थों के व्याकरण को जो समन्तात् प्रयत्न किया, वह अष्टाध्यायी के सूत्रों में शाश्वत्–काल के लिये निहित है। आचार्य पाणिनि द्वारा उपज्ञात यह महत् एवं सुविहित शास्त्र विश्व में आश्चर्य की दृष्टि से देखा जाता है। पाणिनि के सूत्रों की शोभना कृति और अर्थगौरव स्वयंभू शिवधाम के समान अनन्त कृति है। शताब्दियों के विस्तृत अन्तराल ने उसकी महिमा का संवर्धन ही किया है और यावच्चन्द्रदिवाकरौ पाणिनि का यह शब्दशास्त्र लोक में प्रवद्‌र्धमान रहेगा।

आचार्य पाणिनि का यह शास्त्र तत्कालीन समाजव्यवस्था का भी सुन्दर निदर्शन है। सूत्रगत अनेक शब्द हैं जिनसे आचार्य ने तत्कालीन संस्कृति की सूक्ष्म छान–बीन की थी, इसके लिये उन्हें मानव जीवन के प्रायः सम्पूर्ण व्यवहारों की जांच पड़ताल करनी पड़ी। इस प्रकार पाणिनीय

शास्त्र तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का कोश ही बन गया है। सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, धार्मिक जीवन, राजनैतिक जीवन शिक्षा एवं विद्या सम्बन्धी जीवन एवं भौगोलिक विवरण सबके विषय मे पाणिनि ने राई–राई करके सामग्री का सुमेरु ही खड़ा कर लिया है।

अद्यावधि इस ग्रन्थ पर अनेक मनीषियों, अध्येताओं एवं व्याख्याताओं ने अपने–अपने ढंग से अनेक प्रकार से व्याख्या किया है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध 'पाणिनि प्रोक्त समाजव्यवस्थापरक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन' में मैंने अष्टाध्यायी में प्रयुक्त तत्कालीन समाज व्यवस्थापरक शब्दों का अन्वेषण कर एवं एकत्रित करके उन शब्दों के माध्यम से तत्कालीन समाज को समझने का प्रयास किया है। कहना न होगा कि प्रस्तुत अध्ययन की आधारशिला अष्टाध्यायी है और महाभाष्य, काशिका, सिद्धान्त कौमुदी प्रभृति ग्रन्थ गवेषणीय चिन्तन को सुदृढ़ता प्रदान करने वाले हैं। निष्कर्षो के वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण हेतु प्राचीन भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित एवं भौगोलिक शब्दों की व्याख्या हेतु भूगोल की पुस्तकों का भी अध्ययन किया गया है और इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भारतीय चिन्तन परम्परा का वैज्ञानिक दिशा में अग्रसर होने का प्रयास है। इस देश में व्याकरण का अध्ययन परम कोटि को पहुँच गया था। इस क्षेत्र में गुरु–शिष्य पारम्पर्य से पूर्व समय में जितना कार्य हुआ था और अर्वाचीन विद्वानों ने उसमें जो कुछ जोड़ा है प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उन सभी की सहायता शोध प्रबन्ध को प्रामाणिक बनाये रखने हेतु ली गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करते हुये आज मैं गुरुवर स्व. डा. वीरेन्द्र कुमार सिंह जी की आत्मा की शान्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना करते हुए अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

अपृथग्दर्शी आचार्य द्वारा उपदिष्ट शास्त्र अवन्ध्य फल होता है, परन्तु ऐसे उपदेष्टा जन्म–जन्मान्तर के सञ्चित पुण्य से ही मिलते है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्ययन के उषःकाल से ही मैं डा. कौशल किशोर श्रीवास्तव जी से प्रभावित रहने लगा और गुरुवर ने भी गुरुकृपा

प्रदान की। अस्तु शोध निर्देशक के रुप मे डा. श्रीवास्तव जी का साथ मेरे लिये परम सौभाग्य का रहा। आपने पुत्रवत् वात्सल्य देते हुय बहुमूल्य सन्निर्देश देने की कृपा की और इसी का परिणाम प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है। उनकी महती कृपा को मैं लेखनी से व्यक्त करने में असमर्थ हूँ, केवल इतना ही कह पा रहा हूँ कि गुरुऋण से उऋण होकर भी मैं उनसे उऋण नहीं हो सकता।

संस्कृत विभाग की विभागाध्यक्षा प्रो. मृदुला त्रिपाठी जी का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मातृवत् स्नेह देते हुए समय–समय पर बहुमूल्य सुझावों से मुझे लाभान्वित किया, इस शोध प्रबन्ध को पूरा करने में उन सुझावों का अत्यधिक योगदान रहा। मैं अपने उन समस्त गुरुजनों का हृदय से आभारी हूँ जिनकी उँगली पकड़कर मैंने ज्ञान–पथ पर लडखड़ाते कदमों को स्थिर करके चलना सीखा।

स्वर्गादपि गरीयसी ममताप्लावित पूजनीया जननी श्रीमती सरस्वती देवी एवं पूज्यपाद पितृ महाभाग श्री हीरालाल पाण्डेय (प्रवक्ता, अर्थशास्त्र) को कृतज्ञता ज्ञापित करने की मैं धृष्टता नहीं कर सकता। अनेक झंझावतों को अडिग चट्टान की भाँति झेलकर मुझे निष्कण्टक अध्ययन करने के लिये उत्प्रेरित करने वाले पूजनीया एवं पूज्यपाद मातृ–पितृ आशीर्वाद के फलस्वरुप ही यह शोधकार्य पूर्ण हो सका। इनसे तो मैं जन्मान्तर में भी उऋण नहीं हो सकता, लेकिन यदि पुनर्जन्म होता है तो मैं पुनः इसी कुक्षि में जन्म लेना चाहूँगा। पूज्य पितृव्य श्री रामकृष्ण पाण्डेय, श्री विष्णुदत्त पाण्डेय, श्री बजरंग लाल पाण्डेय एवं श्री अवधेश प्रताप पाण्डेय का भी हृदय से नमन करता हूँ। आप सभी, मै जब भी इलाहाबाद से घर जाता तो मेरे ऊपर शोध कार्य को पूर्ण करने के लिए अत्यधिक दबाव डालते। आज इस कार्य को पूर्ण करते हुये मैं आप सभी से केवल आशीर्वाद की आकांक्षा रखता हूँ। परिणीता श्रीमती मधुबाला पाण्डेय एम.ए. (समाजशास्त्र) ने गार्हस्थ्य जीवन के दौरान भूरिशः इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिये प्रेरित किया। इन्हें कुछ भी कहना केवल आत्मश्लाघा होगी।

इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे जिन मित्रों का योगदान रहा उनमें सर्वप्रथम श्री बजरंगी मिश्र एम.ए. (प्राचीन इतिहास), बी.एड है जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में सराहनीय योगदान दिया। स्नातक कक्षा से अद्यावधि आप मेरे कक्षसहभागी है। वर्तमान युग में सन्मित्र मिलना दुर्लभ है लेकिन आपने सदैव एक सच्चे मित्र के रुप में अपने को प्रस्तुत किया, मैं इनका हृदय से आभारी हूँ। इनके भतीजे चि. जीतेन्द्र बहादुर मिश्र तो केवल आशीर्वाद के पात्र हैं। इनके अतिरिक्त श्री हरिनाथ मिश्र, श्री सन्तोष कुमार उपाध्याय (सहायक अभियोजन अधिकारी) श्री रत्नाकर तिवारी, श्री सुरेन्द्र नाथ मिश्र, श्री शैलेन्द्र कुमार यादव, डा. कपूर कुमार पाण्डेय, श्री जय सिंह (प्रवक्ता राजकीय महाविद्यालय), श्री सत्य नारायण पाण्डेय आदि का भी योगदान अविस्मरणीय है।
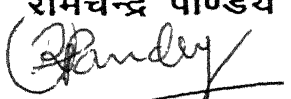
पुस्तकालयाध्यक्ष एवं पुस्तकालय के अन्य कर्मचारियों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने शोध हेतु अनेक प्रकार के ग्रन्थों को उपलब्ध कराया। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रुप से जिन ग्रन्थों का लाभ इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में प्राप्त किया उनके लेखकों के प्रति भी मैं निश्चित रूप से कृतज्ञ हूँ। इस शोध प्रबन्ध को बड़े ही कौशल से टंकित करने के लिये श्री रुपेश कुमार श्रीवास्तव जी भी धन्यवाद के पात्र हैं। चिन्तन के प्रति मेरी श्रद्धा तथा विश्वास का मूर्तरुप प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध है। अन्त में महाकवि कालिदास के शब्दों के साथ

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

मालविकाग्निमित्रम् १/२

विनयावनत
रामचन्द्र पाण्डेय
[signature] 2001

अक्षय नवमी
सम्वत् २०५८ विक्रमी
तदनुसार

प्रथम-सोपान

प्रथम-सोपान

व्याकरण शास्त्र की परम्परा

संस्कृत के माध्यम से जैसी एकता स्थापित हुई है वह अन्य किसी माध्यम द्वारा सम्पन्न नहीं हुई। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, आयुर्वेद, विज्ञान, गणित, इतिहास, दर्शन आदि प्राचीन भारत की ज्ञान–विज्ञान की समस्त सामग्री संस्कृत भाषा में उपलब्ध है। हमारी सभ्यता और संस्कृति की परम्पराएं इसी भाषा के माध्यम से हमारे सामाजिक जीवन को समृद्धि प्रदान करती हैं। युगों की सञ्चित अनमोल साहित्यिक सम्पदा, सहस्रों वर्षों का गौरवपूर्ण इतिहास तथा आध्यात्मिक ज्ञान की अखण्ड ज्योति से जाज्वल्यमान यह धरोहर मानव मात्र के लिए कामधेनु बनी हुई है। हिन्दी के साथ–साथ देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित सभी भाषाओं को समृद्ध बनाने में आज भी इस भाषा का अपूर्व योगदान है।

संस्कृत का व्याकरण अपने में इतना पूर्ण है कि भाषा या शब्द निर्माण में इसका अपना ही महत्व है। व्याकरण के अध्ययन के बिना संस्कृत भाषा का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। छहो वेदाङ्गों में व्याकरण को ही प्रधानता दी गयी है। 'प्रधानं च षट्ष्वङ्गेषु व्याकरणम्।' अति प्राचीन काल से ही संस्कृत में उत्तमोत्तम व्याकरणों की रचना की गयी। यही कारण है कि इस देश में व्याकरण को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया और व्याकरण की अभिवृद्धि के साथ–साथ भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

व्याकरण सम्मत होने के कारण ही संस्कृत भाषा का स्वरूप अब तक ज्यों का त्यों बना रहा। यदि इसे व्याकरण के नियमों से इतना अनुशासित न किया गया होता तो सम्भवतः इसका यह स्वरूप आज हमें

देखने को नही मिलता। जो भाषा व्याकरण के नियमों से अनुशासित नही होती, उसका रूप विकृत हो जाना स्वाभाविक ही है। संस्कृत मे जो शक्तिग्राहकता दिखायी देती है वह व्याकरण के कारण ही है।

भाषा मानव—मात्र के लिए भावों एवं विचारों के पारस्परिक आदान—प्रदान का सर्वोत्तम साधन है। मनुष्य जाति को यह बहुत बड़ी ईश्वरीय देन है। शब्दों के समुदायभूत वाक्यों से भाषा बनती है, इसके अभाव में लोक—यात्रा असम्भव—प्राय ही है। इसी कारण दण्डी सदृश मनीषी ने 'शब्द' को, लोक को प्रकाशित करने वाली वह ज्योति कहा है जिसके अभाव में सारा विश्व अविद्यान्धकार में डूब जाता है।[१]

व्याकरण का भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा की सार्थक इकाई 'शब्द' के प्रकृति—प्रत्ययादि का विवेचन ही तो व्याकरण है :— ''व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयोऽनेन अस्मिन् वा तद् व्याकरणम्'' (वि+आङ्+कृ+ल्युट्)। व्याकरण का उद्देश्य है प्रकृति प्रत्यययादि के विवेचन द्वारा शब्द के वास्तविक या सही रूप का स्पष्ट निर्धारण करके असाधु शब्द निराकरण पूर्वक शिष्ट जनोचित शब्द प्रयोग का ज्ञान प्रदान कराना। तात्पर्य यह है कि व्याकरण को बिना पढ़े और जाने शिष्ट या संस्कृत वाणी वाला होना असम्भव है। इस शास्त्र की इसी महती उपयोगिता के कारण ही—

''यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।

स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत।।''

जैसी अनेकानेक उक्तियां प्रचलित हो गई। दन्त्य स् के स्थान पर अज्ञान अथवा अनभ्यास—वश भी तालव्य श् के उच्चारण—मात्र से 'स्वजन' अर्थात् आत्मीय जन 'श्वजन' अर्थात् कुत्ते के समकक्ष, 'सकल' के स्थान में उच्चारित 'शकल' से समस्त का भाव न प्रकट होकर टुकडे का भाव प्रकट होगा, 'सकृत्' एक बार का वाचक न होकर 'शकृत' अनभिप्रेत मल, विष्ठा

---

१. **''इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत् भुवनत्रयम्।**
यदि शब्दाहयं ज्योतिरासंसारन्न दीप्यते।'' (काव्यादर्श १/३)

अर्थ देने लगेगा। व्याकरण शास्त्र की इस उपयोगिता की ओर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने संकेत किया है– "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्।" वस्तुत व्याकरण ही शब्दों का शुद्ध उच्चारण सिखाता है, उनके प्रकृति प्रत्ययादि का बोध कराकर उनके शुद्ध रूप एवं सही अर्थ में प्रयोग का ज्ञान कराता है, एवं शब्दत्वावशब्दत्व–साधु एवं असाधु शब्द का निर्धारण करके पुरूष को शिष्ट एवं संस्कृत बनाता है।

'व्याकरण' शब्द 'वि' तथा 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से करण, अधिकरण और भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न है। इसके व्युत्पत्ति मूलक तीन अर्थ सम्भव हैं– क. वह शास्त्र जिसके द्वारा शब्दों का अनुशासन किया जाय (करण कारक को आधार मानकर), ख. वह शास्त्र जिसमें शब्दों का अनुशासन किया जाय (अधिकरण कारक को आधार मानकर) ग. शब्दों के अनुशासन की प्रक्रिया (भाव अर्थ में)।

पतञ्जलि ने 'व्याकरण' के शब्दार्थ का विवेचन करते हुए 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' अर्थात् व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य (उदाहरण) और लक्षण (सूत्र) दोनों किया है। तात्पर्य यह है कि व्याकरण वह शास्त्र है जिसमें सूत्रों, रूप नियमों के द्वारा शब्दों की प्रकृति प्रत्यय का निर्धारण करते हुए इनके साधु रूप का ज्ञान कराया जाय।

व्याकरण–सम्बन्धी नियमों के प्रतिपादक ग्रन्थों को व्याकरण–शास्त्र कहते हैं। शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टो' धातु से निष्पन्न है, अर्थात् व्याकरण का अनुशासन या उपदेश करने के कारण ही ये ग्रन्थ शास्त्र कहलाने के अधिकारी हैं।

व्याकरण की उत्पत्ति एवं प्राचीनता

हम लौकिक जगत में देखते हैं कि एक वस्तु किसी एक परिस्थिति में अनेक व्यक्तियों के प्रत्यक्ष का विषय बनती है। तब उस स्थिति में उस

वस्तु की वास्तविक स्थिति एव सत्ता में तो कोई अन्तर नही आता, परन्तु अनेक द्रष्टा पुरूषो के द्वारा उसके वर्णन करने मे उनकी योग्यता एव व्यक्तिगत भावना के कारण पर्याप्त अन्तर आ जाता है। कुछ सीमा तक वह बात व्याकरण शास्त्र के साथ भी लागू होती है। इसके अतिरिक्त बदलते हुए समय के प्रवाह में विभिन्न युगों में भिन्न–भिन्न मनीषी विद्वानों ने इस विषय में अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया और उनके द्वारा प्रदत्त नामों या उन्हीं प्रणेताओं के नामों पर व्याकरण ग्रन्थों का आज हमें ज्ञान है।

व्याकरण शास्त्र के विषय में एक यह विशेषता है कि सभी आचार्यों के द्वारा प्रकृति–प्रत्यय रूप विभाग की कल्पना समान रूप से की गई है, हाँ भेद केवल इतना है कि किसी आचार्य ने शब्द विशेष की व्युत्पत्ति में अन्तर प्रदर्शित करते हुए किसी भिन्न धातु (प्रकृति) से भिन्न प्रत्यय की कल्पना करके उस शब्द का प्रणयन किया तथा अन्य आचार्य ने उसे किसी अन्य धातु एवं प्रत्यय से निष्पन्न किया।

व्याकरण का मूल रूप

व्याकरण शास्त्र का मूल रूप हमें ऋग्वेद के अन्तिम चरण से ही दृष्टिगत होता है। चाहे महर्षि पतञ्जलि के 'चत्वारि श्रृंङ्गाः' के आख्यान 'नामाख्यातोपनिसर्गनिपाताः तथा 'सप्तसिन्धवः' के व्याख्यान 'सप्त विभक्तयः' को हम न भी माने, फिर भी ऋग्वेद १०/१२/५ या तैत्तिरीय संहिता V.L. ४/७/३ पहले से ही इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र रूप से वार्तालाप करते हुए संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि को पर्याप्त महत्त्व देते थे। यहॉ यह उद्देश्य नहीं है कि उन सभी मंत्रों को उद्घृत किया जाये, जिनमें कुछ भी व्याकरण की दृष्टि से उपयोगी अंश है अपितु इतना कहना समीचीन होगा कि उपलब्ध प्रमाण इस बात के साक्षी है कि मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने व्याकरण के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। चूँकि व्याकरण–शास्त्र का ज्ञान या शिक्षण उनका मुख्य ध्येय नहीं था,उन्होंने

अपने श्रम को इस ओर नही लगाया। 'व्याकरण' शब्द की निष्पत्ति जिस धातु से मानी जाती है उसके मौलिक अर्थ का प्रयोग यजुर्वेद मे परिलक्षित होता है।

'व्याकरण' शब्द का प्रयोग रामायण, महाभारत, गोपथ ब्राह्मण, मुण्डकोपनिषद् आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। वैदिक संहिताओं में कितने ही ऐसे मंत्र उपलब्ध होते हैं जिनमें शब्दों की व्युत्पत्ति का स्पष्ट संकेत या कथन मिलता है।

''सक्तुमिव तितउना पुनन्तोयत्र धीरा मनसा वाचमकत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रा ह्येषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।''[१]

में स्पष्ट ही ऋषि–मनीषियों द्वारा अपने शिष्ट मन से चलनी से सत्तू की भाँति, अपशब्दों से पृथक–कृत शुद्ध शब्दों वाली वाणी में उनकी कल्याणकारिणी विभूति के निहित होने का कथन है। इसी प्रकार -

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।[२]

में वाणी के सही तत्त्व को जानने वाले की प्रशंसा यह बात कहकर की गयी है कि वाक् तत्त्व के द्रष्टा के प्रति वाणी अपने तनु अर्थात् स्वरूप को उसी प्रकार प्रकट कर देती है जैसे सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित स्त्री अपने को अपने पति के प्रति।

इससे स्पष्ट है कि व्याकरण का सूत्रपात वैदिक युग में हो चुका था। मैत्रायणी संहिता में विभक्ति का उल्लेख है।[३] ऐतरेय ब्राह्मण में वाणी के सात भागों (विभक्तियों) का उल्लेख है।[४] गोपथ ब्राह्मण में तो विभक्ति के अतिरिक्त कई संज्ञाओं जैसे धातु, प्रातिपादिक लिङ्ग, वचन इत्यादि का

---

१. ऋग्वेद १०/७१/२

२ ऋग १०/७१/४

३. मैत्रायणी संहिता १–७–३ : तस्माद् षड् विभक्तयः।

४. ऐतरेय ब्राह्मण ७–७ सप्तधा वै वागवदत्। सप्त विभक्तयः इति भट्टभास्करः।

भी स्पष्ट उल्लेख है।[1] इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि संहिताओ में बीज रूप मे उपस्थित व्याकरण का ब्राह्मण युग मे सविशेष विकास हुआ। अवान्तर काल मे वेदो की प्रत्येक शाखा के लिए प्रातिशाख्यो की रचना हुई जो वर्णो के स्थान तथा प्रयत्न, स्वर, संहिता (सन्धि) आदि का सूक्ष्म विवेचन करने के कारण व्याकरण के ही पूर्व रूप माने जाने चाहिए। इनमें व्याकरण के जो पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, उनमें से अधिकांशतः उत्तरकालीन वैयाकरणों द्वारा अपने ग्रन्थों में ज्यों का त्यों ले लिये गये हैं। स्वयं महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शुक्लयजुः प्रातिशाख्य की उपधा, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और आम्रेडित आदि संज्ञाओं को ज्यों का त्यों ले लिया है। सबसे प्राचीन प्रातिशाख्य शौनक–कृत ऋक् प्रातिशाख्य है जो पाणिनि से पूर्ववर्ती है। अनुमानतः ईसा पूर्व अष्टम् शताब्दी के आचार्य यास्क का निरूक्त प्रायेण निर्वचनमूलक है। निर्वचन भी तो व्याकरण के विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत ही आता है। यह और बात है कि निरूक्त एवं व्याकरण के निर्वचन कार्यो में प्रकार और मात्रा दोनों का भेद है।

संस्कृत वाङ्मय में इतस्ततः विकीर्ण व्याकरण विषयक सामग्री, यास्क के निरूक्त, वेदों के विभिन्न प्रातिशाख्यों तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी में उद्घृत अनेक वैयाकरणों के विविध मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य पाणिनि से पूर्व वैयाकरणों की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। वैयाकरणों की इस परम्परा में केवल पाणिनि ही ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने वैदिक तथा लौकिक उभयविध शब्दों को आधार बनाकर अपने प्रशस्त व्याकरण ग्रन्थ' अष्टाध्यायी का सफलतापूर्वक प्रणयन किया। उनसे पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वैयाकरण प्रायः वैदिक शब्दों को अथवा लौकिक शब्दों को ही अपने–अपने व्याकरण का विषय बना सके थे। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से व्याकरण के आचार्यों का तीन श्रेणियों में विभाजन किया जा सकता है–

---

१. ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातं, किं लिङ्गं, कि वचनं का विभक्ति, कः स्वर उपसर्गोनिपातः, कि वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्र, कतिवर्ण., कत्यक्षरः, कति पदः, कः संयोगः,किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्।
–गोपथ पूर्व १–२४)

क. पूर्व–पाणिनि वैयाकरण

ख. आचार्य पाणिनि

ग. उत्तर–पाणिनि वैयाकरण

पूर्व–पाणिनि वैयाकरण

प्रातिशाख्यों में उद्‌घृत प्राचीन वैयाकरण

पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण विद्वानों के सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए हमारी दृष्टि सर्वप्रथम प्रातिशाख्य ग्रन्थों की ओर जाती है क्योंकि वेदों की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थों को व्याकरण का प्रारम्भिक रूप समझा जाता है। प्रातिशाख्य पाणिनि के पूर्ववर्ती हैं अथवा पश्चात्‌वर्ती ? इस विषय में बहुत काल से विद्वानों में वैचारिक मतभेद हैं परन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दो की गम्भीर तुलना करके विद्वानों ने ऐसे संकेत प्रस्तुत किये हैं जो हमें ए.सी. बर्नेल के निष्कर्ष को मानने के लिए बाध्य कर देते हैं कि सम्पूर्ण विद्यमान प्रातिशाख्य अपने वर्तमान रूपों में पाणिनि से अर्वाचीन हैं। परन्तु ये सभी प्रातिशाख्य किसी न किसी प्रकार एक ऐसे व्याकरण सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं जो पाणिनीय सम्प्रदाय से पूर्व प्रतिष्ठित था। इन प्रातिशाख्यों में अग्निवेश्य, अग्निवेश्यायन, अन्यतरेय, अगस्त्य एवं इन्द्र आदि ५६ आचार्यो का उल्लेख मिलता है जिनमें बहुतों का सम्बन्ध व्याकरण से स्थापित किया गया है।

यास्क

यास्क वास्तविक रूप से शुद्ध वैयाकरण न होकर भाषा वैज्ञानिक हैं। यास्क का पाणिनीय व्याकरण तथा प्रातिशाख्यों के बीच की कड़ी होने के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक स्थान पर यास्क ने स्वयं अपने समय से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य विषयक अध्ययन के विकास पर प्रकाश डाला है,

जिससे उनके समय तक हुई व्याकरण एवं भाषा विज्ञान विषयक प्रगति ज्ञात होती है। उसी क्षेत्र में उन्होंने अपना भी योगदान किया है। इन पंक्तियों में वेद, ब्राह्मण अन्य उसी प्रकार के ग्रन्थों एव यास्क से पूर्ववर्ती काल के क्रमिक विकास का भी साङ्केतिक परिचय मिलता है।

दुर्भाग्य से यास्क के समय के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं जान पड़ता। यास्क के समय के लिए अधिकांश रूप में पाणिनि की तिथि पर निर्भर करना पड़ता है। महर्षि पाणिनि और महर्षि यास्क के बीच में कम से कम एक शताब्दी का अन्तर मानना होगा। यास्क ने पर्याप्त शब्दों का प्रयोग एवं व्युत्पत्ति एक नवीन प्रकार से किया है।[१] पाणिनि ने जिस भिन्न प्रक्रिया एवं व्युत्पत्ति का प्रयोग किया— उसमें कुछ समय की अपेक्षा अवश्य ही है। यास्क ने निरुक्त में अपने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यो, यथा—शाकटायन, शाकल्य, शाकपूणि, औदुम्बरायण आदि का उल्लेख किया है। पाणिनि ने तो अपने पूर्ववर्ती दस वैयाकरणों का उल्लेख अष्टाध्यायी में ही किया है। पाणिनि से प्राचीन पन्द्रह आचार्यों का उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के पूर्व संस्कृत—छन्दस् तथा भाषा का व्याकरण बहुत विकसित हो चुका था और उसके भिन्न—भिन्न कई सम्प्रदाय थे। आठ सम्प्रदायों का उल्लेख तो कई स्थलों पर मिलता है, यद्यपि इस विषय में ऐकमत्य नहीं प्राप्त होता। एक स्थल में ब्राह्म, ऐशान, ऐन्द्र, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, आपिशल एवं पाणिनीय ये आठ नाम मिलते हैं। अन्यत्र ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, आपिशल, शाकटायन, पाणिनीय, अमर एवं जैनेद्र ये आठ सम्प्रदाय उल्लिखित है। वाल्मीकि—रामायण में उल्लिखित नौ सम्प्रदाय इस प्रकार है : ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिशल, शाकल्य और पाणिनीयक। इस विवरण से यह बात स्पष्ट है कि सभी ने ऐन्द्र व्याकरण को प्रमुखता दी है। इन्द्र के पूर्व दो आचार्य और है— ब्रह्मा तथा बृहस्पति। ऋक्तंत्र मे शाकटायन का कथन है

१. यास्क 'कारित' का प्रयोग करते हैं जिसके लिए पाणिनि ने णिजन्त का प्रयोग किया है। यास्क के व्यञ्जन को पाणिनि ने विशेषण करके प्रयुक्त किया है।

कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को व्याकरण का ज्ञान दिया, वृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को भरद्वाज ने ऋषियो को और ऋषियो ने ब्राह्मणों को।[1] ब्रह्मा का प्रवचन 'शासन' कहलाया, परवर्तियों का 'अनुशासन'। बृहस्पति देवों के गुरू एवं पुरोहित कहे गये है।[2] बृहस्पति ने इन्द्र को व्याकरण का ज्ञान दिया, इस बात का उल्लेख तो पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में किया है।[3]

इन्द्र प्रथम वैयाकरण हैं जिन्होंने पूर्वागत अव्याकृत वाक् के प्रकृति–प्रत्यय का विभाजन करके उसे व्याकृत किया (जिससे उसको सीखना समझना सरल हो गया)। उनसे पूर्व केवल प्रति पद पारायण (पाठ) का प्रचलन था। इन्द्र ने भरद्वाज को शब्दशास्त्र की शिक्षा दी। परवर्ती काल में यही ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रचलित हुआ। वररूचि तथा व्याडि इसी सम्प्रदाय के आचार्य थे। चान्द्र व्याकरण पञ्चम शताब्दी ईश्वी के उत्तरार्द्ध में होने वाले बौद्ध धर्मानुयायी चन्द्रगोमी द्वारा लिखा गया। इसमें तीन हजार से ऊपर सूत्र हैं। इनके भी पूर्व शर्ववर्मा ने ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर कातन्त्र व्याकरण की रचना की थी। जैनेन्द्र व्याकरण देवनन्दी द्वारा षष्ठ शताब्दी ईश्वी में, शाकटायन कृत शब्दानुशासन अष्टम, हेमचन्द्राचार्य कृत शब्दानुशासन– हैमव्याकरण द्वादश, सारस्वत व्याकरण तथा बोपदेव कृत मुग्ध बोध त्रयोदश शताब्दी ईश्वी में लिखे गये। आखिरी दोनों प्रचलित भी हुए। मुग्धवोध का विशेष प्रचार बंगाल में हुआ। वहॉ अभी भी इसका प्रचार है। सारस्वत व्याकरण पर सप्तदश शताब्दी में रामाश्रम द्वारा लिखी गयी सारस्वत चन्द्रिका का बीसवीं शती के प्रथम पाद तक काशी के क्षेत्र में विशेष प्रचार था।

---

१. **ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय,**
इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः। ऋक्तन्त्र १–४

२. **बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः।** –ऐतरेय ब्राह्मण ८–२६

३. **''बृहस्पतिः इन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां**
शब्दानां शब्द-पारायणं प्रोवाच न च पारं जगाम।'' महाभाष्य १/१/१

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में पाणिनि, का नाम अमर है। इन्होंने लगभग चार हजार सूत्रों में संस्कृत छन्दस् एवं भाषा दोनों का ऐसा संक्षिप्त किन्तु साङ्गोपाङ्ग व्याकरण लिखा जिसकी समकक्षता तो क्या, समीपता में भी रखने योग्य दूसरा कोई व्याकरण नहीं है। पाणिनि ने संश्लिष्ट विधि से व्याकरण की इतस्ततः विकीर्ण सामग्री को अपनी अष्टाध्यायी में सफलता पूर्वक एकत्र कर अति संक्षेप में रख दिया। इस संक्षेप में उन्हें प्रत्याहारों, अनुबन्धों, गणों, संज्ञाओं एवं अनुवृत्तियों के द्वारा आशातीत सफलता मिली। इतना अवश्य हुआ कि इस संक्षेपातिशय के कारण उनकी अष्टाध्यायी दुरूह अवश्य हो गई, किन्तु लेखन सामग्री की प्रचुरता के अभाव में व्याकरण का अधिकांश कण्ठस्थ रखने के लिए यह उस युग की मांग भी रही होगी।

पाणिनि का जीवन चरित एवं काल निर्धारण

भाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि के विषय में लिखा है– ''पाणिनि अत्यन्त प्रामाणिक आचार्य थे। उन्होंने पवित्र स्थान में प्रातः कालीन सूर्य के सामने बैठ कर और हाथ में कुशा की पवित्री पहनकर बुद्धि के महान् प्रयत्न से अपने सूत्रों की रचना की। वे सूत्र इतनी सावधानी से बनाये गये थे कि उनमें एक अक्षर के भी व्यर्थ होने की गुञ्जाइश नहीं है, सारे सूत्र की तो बात ही क्या।'' पतञ्जलि ने पाणिनि को अत्यन्त मेधावी आचार्य (अनल्पमति आचार्य) कहा है। काशिका में लिखा है– ''महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।'' ऐसे महान् आचार्य के जीवन चरित्र के विषय में हमारी जानकारी अति सीमित है। अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि का जन्म स्थान शलातुर था। शलातुर में जन्म होने के कारण पाणिनि को संस्कृत के कोषों में शालातुरीय कहा गया है। शलातुर गन्धार देश में एक छोटा सा गांव है, जिसे अब लहुर कहते हैं। जहाँ काबुल नदी पश्चिम की तरफ से सिन्ध में मिली है, वहीं संगम पर आजकल ओहिन्द (प्राचीन उद्भाण्डपुर) है। ओहिन्द से ठीक चार मील उत्तर पश्चिम की तरफ लहुर गांव है। होती–

मरदान से ओहिन्द तक जाने वाली बसें लहुर होकर जाती हैं। चीनी यात्री ह्वेनसाग सातवी शती के आरम्भ में मध्य एशिया के स्थल मार्ग से होता हुआ भारत में आया था। तब वह मार्ग में शलातुर में ठहरा था। किसी समय शलातुर अच्छा कस्बा रहा होगा। पाणिनि ने भी अपने एक सूत्र ४/३/९४ में शलातुर का उल्लेख किया है। जिसके पूर्वजों का निवास शलातुर से हो, वह शालातुरीय कहलाता था। पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था, जिसके कारण भाष्य में उन्हें दाक्षीपुत्र कहा गया है।

सोमदेव ने कथासरित्सागर में (११वी शती) पाणिनि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती का उल्लेख किया है। इसमें कुछ सत्य एवं कुछ अनर्गल बातें मिल गई है। इस कहानी के अनुसार पाणिनि आचार्य वर्ष के शिष्य थे, वे पढ़ने में मन्दबुद्धि थे। कात्यायन पाणिनि के सहपाठी थे और बड़े ही कुशाग्रबुद्धि थे। पाणिनि से उनकी स्पर्द्धा रहा करती थी। वे प्रायः पाणिनि से आगे रहते थे। इस स्थिति को न सहकर पाणिनि ने अपने मन की दृढ़शक्ति से हिमालय पर जाकर तप करने का निश्चय किया, वहाँ उनकी तपस्या से भगवान् शिव प्रसन्न हुए और कहा जाता है कि उन्होंने पाणिनि के सामने नृत्य करते हुए चौदह बार अपना डमरू बजाया[1] उसकी जो ध्वनि निकली उसी के अनुसार पाणिनि ने निम्नलिखित चौदह प्रत्याहार–सूत्र बनाये।

१. अइउण्, २. ऋऌक, ३. एओङ्, ४. ऐऔच्, ५. हयवरट्, ६. लण्, ७. ञमङणनम्, ८. झभञ्, ६. घढधष्, १०. जबगडदश्, ११. खफछठथचटतव्, १२. कपय्, १३. शषसर्, १४. हल्।

ऊपर के सूत्रों में संस्कृत की प्राचीन वर्णमाला का एक नया क्रम पाया जाता है। यह क्रम पाणिनि ने स्वयं निश्चित किया था, या उनके पहले से प्रचलित माहेश्वर व्याकरण में यह क्रम था, यह बात निश्चित नहीं है। सम्भावना यही है कि जिस रूप में वर्णमाला के ये १४ प्रत्याहार सूत्र

---

१. **नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।**
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।। – नन्दिकेश्वर

आज पाये जाते हैं, वह स्वय पाणिनि का ही निर्धारित किया हुआ है। ये सूत्र पाणिनि के व्याकरण की आधार शिला है। पाणिनि ने जो व्याकरण के विस्तृत विषय और लम्बे नियमों को इतने संक्षिप्त स्थान में भर दिया है, उसका अधिकांश श्रेय प्रत्याहार सूत्रों की युक्ति को है। उदाहरणार्थ—अच् कहने से स्वरों का, हल् कहने से व्यञ्जनों का एवं अल् कहने से पूरी वर्णमाला के अक्षरों का बोध हो जाता है।

ह्वेनसांग का वर्णन

पाणिनि के जीवन के सम्बन्ध में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने जो लिखा है, वह अधिक विस्तृत और विश्वसनीय है। वह स्वयं शलातुर गया था और वहाँ के विद्वानों से मिला था। उसने वहाँ पाणिनि की एक प्रतिमा देखने की बात भी लिखी है। स्थानीय अनुश्रुति के आधार पर यह बताते हुए कि शब्द विद्या के निर्माता आचार्य पाणिनि का जन्म शलातुर में हुआ था, वह इस प्रकार लिखता है—

"अति प्राचीन काल में साहित्य का बहुत विस्तार था। कालक्रम से संसार का ह्रास होने लगा और एक समय सब शून्य हो गया। तब ज्ञान की रक्षा के लिए देवों ने पृथ्वी पर अवतार लिया। इस प्रकार प्राचीन व्याकरण और साहित्य का जन्म हुआ। इसके बाद भाषा का (व्याकरण का) विस्तार होने लगा और पहली सीमाओं से भी बहत बढ़ गया। ब्रह्मदेव और देवेन्द्र शक्र ने आवश्यकतानुसार शब्दों के रूप स्थिर किये (नियम बनाये) ऋषियों ने स्वमतानुसार अलग—अलग व्याकरण लिखे। मनुष्य उनका अध्ययन करते रहे पर जो मन्दबुद्धि थे वे उन व्याकरणों से अपना काम चलाने में समर्थ न हो सके, फिर उस युग में मनुष्यों की आयु भी घटकर केवल एक सौ वर्ष रह गई थी। ऐसे समय में पाणिनि का जन्म हुआ। जन्म से ही सब विषयों में उनकी जानकारी बढ़ी चढ़ी थी। समय की मन्दता और अव्यवस्था को देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और

अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमो में सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करके अशुद्ध प्रयोगों को ठीक कर दे। उन्होंने शुद्ध शब्दो की सामग्री के संग्रह के लिए यात्राएं की। उस अवसर पर ईश्वरदेव से उनकी भेंट हुई। उन्होंने अपनी योजना ईश्वरदेव के सामने रखीं। सुनकर ईश्वरदेव ने कहा, "यह अद्भुत है मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। ऋषि पाणिनि उनसे उपदेश प्राप्त करके एकान्त स्थान में चले गये। वहाँ उन्होंने निरन्तर परिश्रम किया और अपने मन की सारी शक्ति लगायी। इस प्रकार अनेक शब्दों का संग्रह करके उन्होंने व्याकरण का एक ग्रन्थ बनाया, जो एक सहस्र श्लोक परिमाण का था। आरम्भ से लेकर उस समय तक अक्षरों और शब्दों के विषय में जितना ज्ञान था, उसमें से कुछ भी न छोड़ते हुए सम्पूर्ण सामग्री को उन्होंने उस ग्रन्थ में रख लिया। समाप्त करने के बाद उन्होंने उस ग्रन्थ को राजा के पास भेजा, जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्यभर में उसका प्रचार किया जाय और उसकी शिक्षा दी जाय। यह भी कहा कि जो उसे आदि से अन्त तक कण्ठस्थ करेगा, उसे एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा का पुरस्कार मिलेगा। तब से इस ग्रन्थ को आचार्यो ने स्वीकार किया और अनवरत रूप में सबके हित के लिए इसे वे पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखते रहे हैं। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान ब्राह्मण व्याकरण शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं और उनकी प्रतिभा बहुत अच्छी है।"

ह्वेनसांग ने ऊपर जो लिखा है उससे पाणिनि के जीवन के विषय में और उनके महान् व्यक्तित्व के विषय में ठोस तथ्य ज्ञात होते हैं। उसने मुख्यतः इन बातों का संकेत किया है कि किस प्रकार आरम्भ में वैदिक साहित्य का अनन्त विस्तार था, किस प्रकार देवताओं के प्रयत्न से प्राचीन व्याकरण का जन्म हुआ, किस प्रकार भिन्न–भिन्न व्याकरणों के कारण शब्दों के ठीक रूप स्थिर करने में गड़बड़ी फैल गई, किस प्रकार उस संकट–काल में पाणिनि ने एक नये व्याकरण को जन्म दिया, और किस प्रकार पाणिनि ने व्याकरण रचना में अपनी जन्मसिद्ध मेधा शक्ति और मानसिक एवं शारीरिक तप का प्रयोग किया।

पाणिनि प्रोक्त समाजव्यवस्था परक शब्दों का जिस तरह प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में अध्ययन किया गया है उसके आधार पर पाणिनि के समय और आपेक्षिक तिथि क्रम पर भी प्रकाश पड़ता है। पाणिनि संस्कृत भाषा के ऐसे गाढ़े संक्रान्तिकाल में हुए जब एक ओर वैदिक भाषा और साहित्य का चरम विकास हो चुका था एवं दूसरी ओर संस्कृत भाषा जिसे काव्य भाषा भी कह सकते हैं, अपनी उस महती शक्ति को प्राप्त कर रही थी जो वाल्मीकि और व्यास के श्लोक छन्दों में निहित है। पाणिनि की भाषा लोक व्यवहार की साधु भाषा थी। वह जीवन के व्यापक क्षेत्र में भाव प्रकाशन की सक्षम माध्यम थी। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र के कितने ही शब्द और संस्थाओं का उल्लेख अष्टाध्यायी में आता है। महाभारत, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, पालि साहित्य, अर्धमागधी, आगम साहित्य, इन सबमें पाणिनीय संस्थाओं के उल्लेख मिलते हैं। इनकी सहायता से उन शब्दों के अर्थ और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायता मिली तथा पाणिनि के कालक्रम पर भी प्रकाश प्राप्त होता है।

पूर्वमत

पाणिनि के काल का निर्णय संस्कृत साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कितने ही विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। गोल्डस्टूकर के अनुसार पाणिनि सातवीं शती ई.पू. में हुए। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का भी यही मत था। उनका आधार था कि पाणिनि को दक्षिण भारत का परिचय न था। श्री पाठक ने पाणिनि को सातवीं शती ई. पू. के अन्तिम चरण में महावीर के जन्म से कुछ ही पूर्व रखा था।[१] श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने पहले सातवीं शती फिर पीछे छठीं शती का मध्य भाग पाणिनि का काल माना।[२] पहला मत शारपेंतिये के मत में यह तिथि ५५० ई.पू. होनी चाहिये। उनका अपना ही प्रतिसंस्कृत मत यह था कि यह तिथि ५०० ई.पू. के लगभग थी। श्री रायचौधरी का विचार है कि

१. भण्डारकर संस्थानत की पत्रिका, ११/८३

२. १९१८ कर्माइकेल. व्याख्यान पृ. १४१, दूसरा मत प्राचीन भारत मुद्रा शास्त्र १९२१ पृष्ठ ४६

इरानियों द्वारा गन्धार विजय का युग जब समाप्त हो गया तब पाणिनि का समय होना चाहिये, जो छठीं शती के बाद और चतुर्थ शती से पूर्व का था। 'उनका समय पॉचवीं शती में मानने से सब प्रमाणों की संगति बैठ जाती है।'[१] ग्रियर्सन का मत था कि अशोक के धम्म लेख और पाणिनि के बीच में १००–१५० वर्षों का अन्तर होना चाहिये। इससे ४०० ई.पू. के लगभग पाणिनि का समय था। मैकडानल का प्रतिसंस्कृत मत यह था कि पाणिनि का समय ५०० ई.पू. के बाद होना सम्भव नहीं। बॉटलिक ने इसे ३५० ई. पू. के लगभग माना है। वेबर ने पाणिनि का समय सिकन्दर के भारत में आने के बाद रखा। लीबिश ने निश्चित सम्मति न देते हुए इतना ही लिखा कि इस विषय पर निर्णायक प्रमाण अभी तक हमें प्राप्त नहीं हैं, किन्तु सम्भावना ऐसी है कि पाणिनि बुद्ध के बाद और ईश्वी सन् से पूर्व हुए थे और वे पहली मर्यादा के अधिक सन्निकट थे।

भारतीय अनुश्रुति

इस विषय में किसी भी मत पर पहुँचने के लिए पाणिनीय सामग्री की साक्षी ही हमारा एक मात्र आधार होना चाहिए। इन मतों से यह तो विदित हो जाता है कि मोटे तौर पर सातवीं शती से चौथी शती ई.पू. तक के युग में पाणिनि के समय की सर्वसम्मत अवधि होती है। इसमें भी पांचवीं शती ई.पू. के पक्ष में बहुमत है। इस सम्बन्ध में गोल्डस्टूकर जो व्याकरणशास्त्र और महाभाष्य के मार्मिक जानकार थे, प्रश्न की कुञ्जी के रूप में यह सम्मति देते हैं— "पाणिनि के काल के विषय में कल्पना करने की अपेक्षा इस बात की छान–बीन से अधिक सफलता मिलेगी कि पाणिनि के ऐतिहासिक उल्लेखों का औरों के साथ आपेक्षिक सम्बन्ध क्या है।" इस युक्ति को स्वीकार करते हुए हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि इस विषय में जो सामग्री उपलब्ध है, वह किस तिथि की ओर सम्मिलित संकेत

१. वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास, १९३६, पृ. ३०

करती है। जहाँ सब प्रमाणों की संगति और एक सूत्रता सम्भव हो, वही मत ग्राह्य होना चाहिए इस सम्बन्ध में डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है, "जो भारतीय अनुश्रुति है वह सत्य परम्परा पर आश्रित जान पडती है, अर्थात् पाणिनि किसी नन्दवंशी राजा के समकालीन थे।" यह समय पांचवीं शती ई.पू. के मध्य भाग में था। अब हम प्रमाण सामग्री पर क्रमशः विचार करेंगे।

साहित्यिक उल्लेखों की साक्षी

गोल्डस्टूकर द्वारा पाणिनि के सप्तम शती ई.पू. में रखे जाने का मुख्य आधार यह था कि पाणिनि केवल ऋग्वेद, सामवेद और कृष्णयजुर्वेद से परिचित थे, आरण्यक,उपनिषत् प्रातिशाख्य वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद एवं दर्शनग्रन्थों का उन्हें परिचय न था। केवल यास्क पाणिनि से पूर्व में हो चुके थे। पाणिनि को वैदिक साहित्य के कितने अंश का परिचय था, इस विषय में विस्तृत अध्ययन के आधार पर धीमे का निष्कर्ष है कि ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद सम्भवतः सामवेद, ऋग्वेद के पद पाठ और पैप्पलाद शाखा का भी पाणिनि को परिचय था, अर्थात् ये सब साहित्य उनसे पूर्वयुग में निर्मित हो चुका था।[1] इस सम्बन्ध में एक मार्मिक उदाहरण दिया जा सकता है। गोल्डस्टूकर ने यह माना था कि पाणिनि को उपनिषत् साहित्य का परिचय नहीं था, अतएव उनका समय उपनिषदों की रचना से पूर्व होना चाहिए। यह कथन सारहीन हैं, क्योंकि, सूत्र १/४/७६ में पाणिनि ने उपनिषत्कृत्य इस वाक्यांश में उपनिषत् शब्द का प्रयोग ऐसे अर्थ में किया है, जिसके विकास के लिए उपनिषद् युग के बाद भी कई शती का समय अपेक्षित था। कीथ ने इसी सूत्र के आधार पर पाणिनि को उपनिषदों के परिचय की बात प्रमाणित माना था।[2] तथ्य तो यह है कि पाणिनि कालीन साहित्य की

---

१. धीमे, पाणिनि और वेद १९३५ पृ. ६३

२. तैत्तिरीय सं. कीथ अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृष्ठ १६७

परिधि वैदिक ग्रन्थों से कही आगे बढ चुकी थी। जैसा पूर्व मे दिखाया गया है, वैदिक चरणों के अन्तर्गत कल्पसूत्र एवं धर्मसूत्रो का भी विकास हो चुका था और चरणों से बाहर वेदांग साहित्य की पर्याप्त उन्नति हो रही थी। व्याकरण ग्रन्थों में नामिक और आख्यातिक नामक विशिष्ट ग्रन्थ एवं याज्ञिक साहित्य तथा उनके व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि का अत्यधिक विकास पाणिनि के समय तक हो गया था जो कि वैदिक साहित्य के उत्तरकालीन विकास का सबसे अन्तिम चरण कहा जा सकता है। महाभारत के मूल और उपवृंहित स्वरूप दोनों का परिचय उन्हें था। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने नटसूत्र एवं शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजनीय जैसे नितान्त लौकिक काव्य ग्रन्थों का भी अपने सूत्रों में उल्लेख किया है। जिसे हम शिष्ट प्रयुक्त संस्कृत भाषा का नूतन युग समझते हैं, उसका एक खिला हुआ रूप पाणिनि के युग में विद्यमान था, जिसमें एक ओर अनुष्टुप् श्लोक काव्यरचना का स्पृहणीय माध्यम बन चुका था, दूसरी ओर सूत्रशैली का भी पूर्णतम विकास हो चुका था। उपलब्ध धर्मसूत्र एवं गृह्यसूत्रों से कहीं अधिक प्रतिष्णात सूत्र रचना पाणिनि की शैली थी। पाणिनि द्वारा साहित्यिक उल्लेखों की प्रमाणसामग्री के सामने गोल्डस्टूकर का मत नहीं टिक सकता।

पाणिनि और दक्षिण भारत

भण्डारकर तथा कुछ अन्य विद्वानों ने भी यह मत व्यक्त किया था कि पाणिनि को दक्षिण भारत का परिचय न था। डा. वायुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि पाणिनि के काल विषयक विचार में इस तर्क पर विशेष आग्रह नहीं किया जा सकता। पहले तो यास्क ने ही जिन्हें गोल्डस्टूकर ने भी पाणिनि से पूर्वकालीन माना था, दक्षिण भारत की सामाजिक प्रथाओं का सूक्ष्म परिचय दिया है। जैसा कीथ ने लिखा है— यास्क ने वैदिक शब्द विजामातृ का दक्षिण भारत में प्रचलित ऐसे जामाता के अर्थ में प्रयोग किया

है जिसने अपने श्वसुर को पत्नी का निष्क्रय मूल्य चुकाया है।[1] दूसरे कात्यायन के युग मे सस्कृत भाषा दक्षिण भारत में ओत–प्रोत हो चुकी थी। कात्यायन जैसे व्याकरण शास्त्र के पारंगत विद्वान को पतञ्जलि ने दाक्षिणात्य कहा है (प्रिय तद्धिताः दाक्षिणात्याः) पाणिनि और कात्यायन में लगभग एक शती का अन्तर था। एकलिङ्ग ने लिखा है, "मैं श्री बूहलर के इस मत से सहमत हूँकि कात्यायन का अधिकतम सम्भव समय चौथी शती और पतञ्जलि का दूसरी शती ई.पू. में था।[2] तीसरे पाणिनि ने समुद्रतटवर्ती एवं मध्यसमुद्रवर्ती द्वीपों का उल्लेख करने के अतिरिक्त अयनांशो के मध्य के भूभाग को अन्तरयन देश लिखा है (८/४/२५) यह दक्षिण की ओर ही संकेत है जो कि कर्करेखा के दक्षिण का प्रदेश था। अवन्ति जनपद के दक्षिण अश्मक जनपद का उल्लेख तो साक्षात् सूत्र में किया गया है, जिसकी पहचान सर्वसम्मति से गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान या पोदन्यपुर राजधानी वाले भू–भाग से की जाती है। पूर्व के जनपदों में कलिङ्ग का भी उन्होंने सूत्र में उल्लेख किया है, जहॉ से दक्षिण भारत के यातायात का मार्ग खुलता था। अतएव दक्षिण के विषय में पाणिनि का भौगोलिक मौन इस प्रकार का नहीं है कि उससे कोई परिणाम निकाला जा सके।

पाणिनि और बुद्ध

मंखलि गोसाल बुद्ध का समकालीन था। अतएव पाणिनि से पूर्व बुद्ध का जन्म हो चुका था, इस तथ्य को मान लेने से पाणिनि के कई शब्द अपनी सच्ची पृष्ठभूमि में समझे जा सकते हैं। निर्वाण, कुमारीश्रमणा, सञ्चीवरयते (३/१/२०) और निकाय नामक धार्मिक संघ जिसमें औत्तरार्द्धय का अभाव था, इस प्रकार के हैं। ऐसा संघ विशेषरूप से बौद्ध धर्म के साथ

---

१. विजामातेति शाश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते, निरूक्त ६/६; कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ. १५

२. एकलिङ्ग, शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद, भूमिका)

सम्बन्धित था। पहले धार्मिक आचार्य अपना सघ या गण बनाते थे जिसके वे स्वयं सत्था होते थे, किन्तु बौद्ध संघ बुद्ध के बाद जिस रूप में विकसित हुआ, वह उस समय के लोगों को कुछ विचित्र सा जान पड़ा, उसमें सत्था का परमाधिकार नहीं के बराबर था। संघ के सभी सदस्य विनय के नियमों को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे। सत्था के एकमात्र अनुशासन के स्थान में स्थविरों के प्रति सम्मान का भाव विकसित हुआ। समता के आधार पर समस्त भिक्षु समुदाय का ऐसा संघ बना जिसमें औत्तरार्द्धय अर्थात् किसी के ऊँचे और किसी के नीचे होने का भाव विल्कुल न रह गया था। राजनैतिक संघ या गण में यह बात न थी। वहाँ कुछ लोग मूर्धाभिषिक्त 'राजा' होते थे और कुछ सामान्य जन। इन संस्थाओं से संकेत प्राप्त होता है कि पाणिनि का काल बुद्ध के अनन्तर होना चाहिए।

श्रविष्ठा नक्षत्र

सूत्र ४/३/३४ में दस नक्षत्रों की सूची दी हुई है। पाणिनि ने उसमें श्रविष्ठा नक्षत्र को सबसे पूर्व में रखा है, यद्यपि शेष नामों में क्रम का अभाव है, फिर भी श्रविष्ठा से ही सूची का आरम्भ सकारण ज्ञात होता है। बात यह है कि वेदांग ज्योतिष में नक्षत्रों की गणना श्रविष्ठा से होती थी। उससे पूर्व नक्षत्र गणना कृतिका से की जाती थी उसके बाद महाभारत में यह गणना श्रवण से है। गर्ग के मतानुसार कर्मकाण्ड में कृतिका से और ज्योतिष में श्रविष्ठा से नक्षत्र गणना होती थी। श्रविष्ठा का ही अन्य नाम धनिष्ठा था। वेदांग ज्योतिष के समय घनिष्ठा प्रथम नक्षत्र माना जाता था। धनिष्ठा को छोड़कर श्रवण नक्षत्र की गणना कब से आरम्भ हुई, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में लिखा है– **''श्रवणादीनि ऋक्षाणि।''** फ्लीट ने इस वाक्यांश पर सूक्ष्म विचार करते हुए लिखा कि अवश्य ही जिस समय यह लिखा गया वेदांग ज्योतिष की श्रविष्ठादि गणना के स्थान पर श्रवणादि सूची मान्य हो चुकी थी। कीथ ने फ्लीट के मत को स्वीकार करते हुए

लिखा कि हापकिन्स ने भी १६०३ में अमेरिका की प्राच्य परिषद् पत्रिका के अंक में यही मत व्यक्त किया था। महाभारत में भी एक जगह अपने युग से पूर्व की धनिष्ठादि गणना एवं उससे भी पूर्व की रोहिण्यादि गणना का उल्लेख बचा रह गया है।[1]

इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न यह है कि घनिष्ठ आदि गणना किस समय तक चालू रही और कब उसका स्थान श्रवणादि सूची ने लिया। यदि यह ज्ञात हो जाय तो वही पाणिनि के समय की अन्तिम अवधि माननी होगी। महाभारत में उल्लेख है कि घनिष्ठा के स्थान में श्रवण की गणना का श्रेय विश्वामित्र को था। कीथ ने लिखा है कि विश्वामित्र कोई ज्योतिष के संस्कर्ता आचार्य थे, जिन्होंने विगत घनिष्ठा के स्थान में जहाँ से क्रान्तिवृत्त आगे बढ़ चुका था, श्रवण को वास्तविक स्थिति के अनुसार प्रथम नक्षत्र स्वीकृत किया।[2]

श्री योगेश चन्द्र रे ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए लिखा है कि १३७२ ई.पू. में श्रविष्ठा, सूर्य और चन्द्र संक्रान्ति के समय एक स्थान पर थे। ६० वर्ष में एक नक्षत्र एक अंश हट जाता है अतएव लगभग १६०० वर्ष २६ नक्षत्र के परिवर्तन में लगते हैं। इसलिए पाँचवीं शती ई.पू. में श्रवण नक्षत्र उसी स्थान पर आ गया था, जहाँ पहले श्रविष्ठा था। १३७२ ई.पू. से गणना करते हुए ४०५ ई.पू. तक श्रविष्ठादि गणना का काल था। ४०१ ई. पू. के लगभग 'श्रवणादीनि ऋक्षाणि' यह उल्लेख किया गया होगा। अतएव श्रविष्ठादि सूची को मान्यता देने वाले लेख या विद्वानों का समय ४०० ई. पू. के बाद नहीं होना चाहिए। श्रविष्ठादि नक्षत्रसूची और मस्करी परिव्राजक इन दो प्रमाणों के आधार पर अष्टाध्यायी के काल की अवधि ५०० ई.पू. से ४०० ई.पू. के बीच में सम्भाव्य हो जाती है।

---

१. **घनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिनिर्मितः।**
रोहिण्याद्योऽभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत्।। ऐतरेय आरण्यक, २१६/१०

२. जे.आर.ए.एस. १६१७ पृ ३६

नन्दराज की अनुश्रुति

बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन अनुश्रुति है कि पाणिनि किसी नन्दवंशीय राजा के समकालीन थे। तिब्बती लेखक तारानाथ ने पाणिनि और नन्दराज की समसामायिकता को स्वीकार किया है।[1] सोमदेव ने कथासरित्सागर (१०६३–१०८१) में और क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी (११वीं शती) में लिखा है कि पाणिनि नन्दराजा की सभा में पाटलिपुत्र गये थे। बौद्धग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प (लगभग ८वीं शती) से इस परम्परा का समर्थन होता है। उसके अनुसार, "पुष्पपुर में नन्दराजा होगा और पाणिनि नामक ब्राह्मण उसका अन्तरंग मित्र होगा। मगध की राजधानी में अनेक तार्किक ब्राह्मण राजा की सभा में होंगे और राजा उन्हें दानमान से सम्मानित करेगा।" ह्वेनसांग ने भी शलातुर में जो पाणिनि की जीवनसामग्री संकलित की थी उसके अनुसार ग्रन्थ की रचना के बाद पाणिनि उसे लेकर देश के तत्कालीन सम्राट् की सभा में गये, जिसने उनके ग्रन्थ को वहुसम्मानित किया एवं उसके प्रचार तथा शिक्षण का आदेश दिया। (सी.यू.ची. पृ. ११५)। यद्यपि सम्राट तथा उसकी राजधानी का नामोल्लेख नहीं है, तब भी उससे राजसभा में जाने की अनुश्रुति का आंशिक समर्थन होता है। राजशेखर (६०० ई.) ने भी पाणिनि का सम्बन्ध पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा से माना है। पाटलिपुत्र में इस प्रकार की विद्वत्सभा चौथी शती ई.पू. में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के समय में हुई थी। उसने और भी अधिक प्राचीन संस्था के रूप में उसका उल्लेख किया है। इस प्रकार पाणिनि विषयक अनुश्रुति का व्यापक समर्थन भारतीय, चीनी, यूनानी कई स्रोतों से होता है। यद्यपि पाणिनि गान्धार देश के थे, पर उनके समय उदीच्य और प्राच्य के अति घनिष्ठ सम्बन्ध थे। उसकी परम्परा उपनिषद् युग से ही चली आ रही थी। विशेषतः ज्ञान के क्षेत्र में विद्वानों का सम्पर्क सामान्य बात थी, जैसा

---

१. तारानाथ, बौद्ध धर्म का इतिहास १६०८ पृ. ७६। यह ग्रन्थ अति प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति के आधार पर रचा गया था।

पञ्चाल के उद्दालक आरूणि की मद्रदेश की यात्रा से जाना जाता है। पाणिनि ने भी इसी प्रकार के ज्ञान सम्पर्क में भाग लिया था। उनके एक शती बाद चाणक्य भी वैसे ही तक्षशिला से पुष्पपुर आये थे।[1]

इस सम्बन्ध में इस बात की छानबीन आवश्यक है कि पाणिनि के समकालीन उनके मित्र नन्दराज कौन थे। भारतीय इतिहास के इस युग की सामग्री पर्याप्त न है। एक तो ३२६ ई.पू. नन्दवंश के अन्तिमराजा का अन्तिम वर्ष था, जैसा कि सिकन्दर को पञ्जाब में सूचना मिली थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश का मूलोच्छेद किया। इस तिथि से पूर्व गणना करते हुए नन्दवंश का राज्यकाल मानना होगा। पुराणों में इसे १०० वर्ष और जैन अनुश्रुतियों में १५० वर्ष माना है। तदनुसार नन्दों का राज्यकाल ४७५ ई.पू. से ३२५ ई.पू. के बीच में रखा जाना चाहिए। पुराणों क अनुसार शिशुनागवंशी उदयिन् के बाद नन्दिवर्धन, उसके बाद महानन्दिन्, तब महापद्म और उसके पुत्र राजा हुए। इनकी तिथियां लगभग इस प्रकार हैं।

१. नन्दिवर्धन – ४७५ – ४४५ ई.पू. लगभग

२. महानन्दिन् – ४४५–४०३ ई.पू. लगभग

३. महापद्म – ४०३ – ३७५ ई.पू. लगभग

४. महापद्म के पुत्र – ३७५ – ३२५ ई.पू. लगभग

तारानाथ के अनुसार नन्दवंशी सम्राट महापद्मनन्द के पिता नन्द पाणिनि के मित्र थे। महानन्दिन् का नाम महानन्द या केवल नन्द था। ये ही पाणिनि के समकालीन और उनके संरक्षक मगधवंश के सम्राट् थे, जिनका समय पांचवीं शती ई.पू. के मध्य भाग में था। पाणिनि के सम्बन्ध की जो अन्य साक्षी हैं, वह भी इस तिथिक्रम से संगत बैठ जाती है।

यह ज्ञातव्य है कि व्याकरण साहित्य में नन्दों के सबन्ध के कुछ उल्लेख बच गये हैं।[2] इससे विदित होता है कि किसी नन्दराजा ने नाप

---

१. वादं पर्येसन्तो पुष्फपुरं गन्त्वा,
सिंहली महावंश की अत्थपकासिनी टीका।

२. नन्दोपक्रमाणि मानानि –काशिका २/४/३१

तोल के साधनो को निश्चित या प्रतिमानित किया था। महानन्द को अपने साम्राज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऐसा करना पडा हो, यह सम्भव है। उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् सूत्र के लिए यह उदाहरण ठेठ पाणिनि के समय में ही चालू हुआ होगा और वह विद्वानों की दृष्टि में सटीक उदाहरण प्रतीत हुआ होगा। सूत्र ६/२/१३३ के उदाहरण में नन्दपुत्र भी अतिप्राचीन और महत्त्वपूर्ण उदाहरण होना चाहिए यह नन्द और उसके पुत्र कौन थे। उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है कि नन्दिवर्द्धन प्रथम नन्दराज थे और उनके पुत्र महानन्दिन् या महानन्द नन्दपुत्र थे। कुछ विद्वान मानते हैं कि कलिङ्ग राज खारवेल के लेख में ३०० वर्ष पूर्व किसी नन्दराजा द्वारा कलिङ्ग में एक नहर खुदवाने का उल्लेख है। खारवेल का समय १६५ ई.पू. माना जाय तो नन्दराज का समय ४६५ ई.पू. हुआ। इस समय पाटलिपुत्र में मगध के सिंहासन पर नन्दिवर्धन का राज्य था। उन्हीं नन्दराज के पुत्र को व्याकरण के उदाहरण में नन्दपुत्र कहा गया।

राजनैतिक सामग्री

इस विषय में पाणिनि के राजनैतिक प्रमाण सामग्री पर भी विचार करना उचित है। उनके समय में मगध एकराज जनपद था, किन्तु मगध साम्राज्य की स्थापना न हुई थी। पाणिनि के अनुसार मगध, कोशल, अवन्ति, कलिङ्ग, सूरमस, अश्मक, कुरु, प्रत्यग्रथ या पञ्चाल, ये एकराज जनपद स्वाधीन रूप में पनप रहे थे। अजातशत्रु ने मगध के सिंहासन पर बैठते ही काशि और कोशल को अपने राज्य में मिला लिया था, किन्तु वह अल्पकालिक स्थिति थी। नन्दिवर्द्धन या महानन्दिन् ने राज्य का विशेष विस्तार नहीं किया। अतएव पाणिनि ने स्वाधीन एकराज जनपदों की जिस स्थिति का उल्लेख किया है, वह महानन्द के समय में ही सम्भव थी। उसका उत्तराधिकारी महापद्म हुआ। पुराणों के अनुसार उसने क्षत्रिय राजाओं के मुख्य–मुख्य जनपदों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। कोशल, पञ्चाल, काशि, हैहय, कलिङ्ग, अश्मक, कुरु, मिथिला, शूरसेन

और अवन्ति इन जनपदों की स्वतंत्रता का अपहरण करके और उन्हें अपने साम्राज्य से मिलाकर वह एकराट् बन गया। पुराणों ने इस परिवर्तन का जो मध्यदेश के इतिहास में सम्भवतः पहली ही बार हुआ था विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसके कारण महापद्म को परशुराम के समान सर्वक्षत्रान्तक कहा गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में जिस राजनैतिक स्थिति का उल्लेख है, वह महापद्म के धक्के से पूर्व ४५०–४०० ई.पू. के बीच की होनी चाहिए।

यवनानी

यवन और उनकी लिपि यवनानी का उल्लेख पाणिनि के समय की छानबीन के लिए महत्वपूर्ण है। ईरानी सम्राट् दारा (५८१–४८६ ई.पू.) के लेखों में सर्वप्रथम यवन शब्द का उल्लेख हुआ, जिसका तात्पर्य आयोनिया और वहाँ के निवासियों से था। दारा के साम्राज्य में गन्धार भी सम्मिलित था, जहाँ पाणिनि का निवास था। दारा के समय में ही यौन या उसके संस्कृतरूप यवन शब्द का प्रयोग भारतीय प्रदेश में हुआ होगा। यह कथन ठीक नहीं कि सिकन्दर के साथ आये हुए मेसिडोनिया के यूनानी पहली बार यवन नाम से प्रसिद्ध हुए। वस्तुतः सिकन्दर से बहुत पहले ही यूनान देश के लोग गन्धार में आकर बस गये थे। सिकन्दर ने स्वयं काबुल नदी की द्रोणी में नाइसा नामक स्थान में यूनानियों का एक सन्निवेश देखा था, जो वहाँ पहले से बसा हुआ था। पतञ्जलि ने नैश जनपद का नामोल्लेख किया है।[1] प्राचीन ईरानी यौन और यौना शब्द की संस्कृत के उच्चारण में यवन और यवनाः रूप में प्रसिद्ध हुए।[2] यौना से मिलता हुआ उच्चारण योना प्राकृत में इस देश में भी चालू रहा, जैसा कि अशोक के अभिलेखों में पाया जाता है। अतएव यह असन्दिग्ध है कि पाणिनि के यवन शब्द की परम्परा सिकन्दर कालीन यवनों से नहीं बल्कि आइयोनिया के

१. भाष्य ४/१/१७०
२. सुकुमार सेन, ओल्ड पर्शियन इन्सक्रिप्सन्स पृ २२३

उन यवनों से ली गई थी, जिनका परिचय ईरान के लोगो को छठी शती ई.पू. के अन्त में हो गया था। दारा प्रथम के समय से ईरान और गन्धार का जो सम्बन्ध जुड़ा, वह उसके उत्तराधिकारी ख्षयार्श के राज्यकाल में भी बना रहा। गन्धार के भारतीयों की एक सैनिक टुकडी ने ईरानी सम्राट् की ओर से ४७६ ई.पू. के यूनान युद्ध में भाग लिया था। यों कितने ही अवसर ऐसे थे जिनके कारण गन्धार में यवन या यूनान देश का परिचय लोगों को मिला हो। जैसा कीथ ने लिखा है, "यदि यह ध्यान रखें कि ह्वेनसांग के कथनानुसार पाणिनि गन्धार देश के निवासी थे, जैसा उनके व्याकरण से भी ज्ञात है, तो यह मानना अप्रासंगिक न होगा कि पाणिनि को यवनानी लिपि के नाम का परिचय यूनानियों की प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ था, सिकन्दर के साथ यूनानियों से नही।[1] लिपि शब्द भी जिसका पाणिनि ने सूत्र में उल्लेख किया है, बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। उसका मूल हखामनी लेखों का 'दिपि' शब्द होना चाहिए।"

पाणिनि और पर्शु

पाणिनि ने पर्शु नामक आयुधजीवी संघ का उल्लेख किया है (५/३/११७)। प्राचीन ईरानी 'पार्स' और बावेरु भाषा का पर–सु (बहिस्तून शिला लेख में) पाणिनीय पर्शु के अति निकट हैं। पर्शु संघ का प्रत्येक सदस्य पार्शव कहलाता था जो बावेरु पर–स–अ–अ के अति निकट है। पांचवीं और छठीं शती ई.पू. में ईरान और गन्धार का घनिष्ठ सम्बन्ध था, अतएव पाणिनि पर्शु संघ से परिचित हों, तो आश्चर्य नहीं। गन्धार के अतिरिक्त भारत का सिन्धु जनपद भी ईरानी हखामनि साम्राज्य में सम्मिलित था जिसे वहाँ के लेखों में हिन्दु कहा गया है। पाणिनीय वृक नामक आयुधजीवी संघ की पहचान वर्क या हिर्कानिया (= सं. वार्कण्य) से पहले की जा चुकी है। वर्क शकों का आयुधजीवी संघ था। पाणिनि ने कन्थान्त

---

१. ऐतरेय आरण्यक की भूमिका कीथ पृ. २३

नामो का विस्तार से उल्लेख किया है। कन्था–की शक भाषा का शब्द था। दारा प्रथम ५८१–४८६ ई.पू. और उसके उत्तराधिकारी खषयार्ष (४८५–४६५ ई.पू) के शासनकाल मे गन्धार ईरानी साम्राज्य का शासित प्रदेश था, किन्तु पाणिनि ने स्वतंत्र जनपद के रूप में उसका उल्लेख किया है (साल्वेयगान्धारिभ्यां च ४/१/१६६) यह स्थिति ४६५ ई.पू. के बाद सम्भव हुई होगी। महानन्दिन् के (४४५–४०३ ई.पू.) साथ पाणिनि की सम–सामयिकता पर विचार करते हुए यह तिथि संगत हो जाती है। ४६० ई.पू. के लगभग गन्धार जनपद स्वाधीन हो गया होगा। पाणिनि ने लगभग ४४०–४३० ई.पू. के बीच अपने ग्रन्थ की रचना करने के बाद पाटलिपुत्र की यात्रा की होगी। उस समय उनकी आयु यदि पचास वर्ष मानी जाय तो उनका जन्म ४८० ई.पू. के लगभग आता है। अष्टाध्यायी जैसे शास्त्र की रचना ४० वर्ष की आयु से ५० वर्ष की आयु में सिद्ध होनी सम्भव है। उसके लिए आवश्यक बुद्धि का परिपाक, गम्भीर चिन्तन, दीर्घकालीन सामग्री संकलन एवं स्वानु भव के आधार पर साधिकार विश्लेषण ये सब बातें आयुष्य के इसी भाग में प्रायः सम्भव होती है। उनके जीवन काल की अवधि लगभग ६० वर्ष मानने से पाणिनि का समय ४८० ई.पू. से ४१० ई.पू. अनुमानित होता है।

क्षुद्रक– मालव

सूत्र ४/२/४५ के गणसूत्र में क्षौद्रक–मालवी सेना का उल्लेख है। यह सेना सिकन्दर से लडी थी। अतएव वेबर ने अनुमान किया कि पाणिनि का समय (और उनके पूर्ववर्ती आपिशलि का भी जिन्होंने क्षौद्रकमालवी रूप का विधान किया) सिकन्दर के बाद होना चाहिए। वेबर ने इस तर्क में इतना और जोड़ा कि प्रायः क्षुद्रक मालवों का आपस में मेल न था, पर विदेशी आक्रान्ता ने दोनों को मिलाकर क्षौद्रक मालवी सेना का संयुक्त संगठन तैयार करा दिया।

वेबर के कथन में कई भ्रान्तियां हैं। पतञ्जलि ने जिस आपिशलि विधि का उल्लेख किया है उसका क्षुद्रक मालवो से कुछ भी सम्बन्ध नही है। उसका सम्बन्ध 'आधेनवं' उदाहरण से हे, जिसका उद्देश्य सामूहिक प्रकरण में तदन्त विधि का ज्ञापन कराना है।

दूसरे यह कथन भी ठीक नहीं है कि केवल सिकन्दर के प्रतिरोध के अवसर पर क्षुद्रक–मालवों की सेना संयुक्त हो गई थी। यदि यह मिलन अल्पकालिक या आकालिक होता तो भाषा में क्षौद्रक–मालवी सेना जैसे विशेष शब्द की आकांक्षा कदापि न होती। वस्तुतः क्षुद्रक मालव गणों का यह प्रबन्ध सिकन्दर वाली घटना से बहुत पहले से चला आता था।[1] पाणिनि के समय में भी लोक विदित था। तभी उसके लिए 'क्षुद्रकमालवात्सेनासंज्ञायाम्' इस अन्तर्गण सूत्र की आचार्य ने रचना की। न जाने वेबर ने क्यों यह कल्पना कर ली कि केवल सिकन्दर के युद्ध के लिए ही क्षुद्रक मालव एक हो गये थे। कर्टियस ने तो स्पष्ट कहा है कि क्षुद्रकों और मालवों की सेना का संगठन उनकी पहले से चली आयी प्रथा थी और उसी के अनुसार क्षुद्रकों के एक वीर को समस्त सेना के सेनापति रूप में चुना गया।[2] संयुक्त सेना के विषय में समझौता हो जाने पर भी दुर्भाग्य से ठीक युद्ध के समय दोनों में मतभेद हो गया, और स्थिति जैसा वेबर ने लिखा है ठीक उसके विरीत हो गई। इस विषय में डियोडोर की यह सूचना महत्त्वपूर्ण है कि क्षुद्रक और मालव सेनापति के चुनाव के विषय में एकमत न हो सके और फलतः एक साथ युद्ध करने से विरत हो गये। कर्टियस से भी उसका समर्थन होता है– "युद्ध से पूर्व की रात को दोनों में मतभेद हो गया और उनकी सेनाएं अपने–अपने गुप्त प्रदेश से हट गई।" उसने यह भी लिखा है कि सेना का अधिकांश भाग क्षुद्रकों के दुर्ग में चला गया और वहीं से सिकन्दर के विरूद्ध उन्होंने अतिघोर संग्राम किया। अन्त में क्षुद्रकों

---

१. संयुक्त क्षौद्रक मालवी सेना में ६०,००० पदाति, १०,००० अश्वारोही और ६०० रथ थे। (कर्टियस)

२ मैक्रिण्डिल, सिकन्दर का आक्रमण, पृष्ठ २३६

की यूनानियों से सन्धि हुई, जिन्होने सौ क्षुद्रको का बडी आव–भगत से स्वागत किया। इस पृष्ठभूमि में भाष्य का यह उल्लेख कि क्षुद्रकों ने किसी की सहायता के बिना अकेले युद्ध किया, संगत हो जाता है। (एकाकिभि· क्षुद्रकैर्जितम्, असहायैकित्यर्थः)।

इससे यह निश्चित है कि पाणिनि और यूनानी लेखक दोनों के अनुसार संयुक्त क्षौद्रकमालवी सेना का अस्तित्त्व सिकन्दर के पूर्व से चला आता था। वेबर के उसके विपरीत तर्क में जिससे बहुतों को भ्रान्ति हुई, कोई तथ्य नहीं है।

पाणिनि और संघ राज्य

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में जिन संघ राज्यों की लम्बी सूची दी है, वे चन्द्रगुप्त मौर्य के मगध–साम्राज्य के पूर्व की राजनैतिक स्थिति से संगत होते हैं। यह स्थिति पांचवीं शताब्दी ई.पू. में थी।

पाणिनीय मुद्राओं की साक्षी

प्राचीन मुद्राओं के विषय में अष्टाध्यायी की सामग्री अर्थशास्त्र की सामग्री से प्राचीनतर युग की है। उदाहरणार्थ– पाणिनि में निष्क, सुवर्ण, शाण और शतमान नामक पुराने सिक्कों का उल्लेख है जो कौटिल्य को अविदित थे। इसके अतिरिक्त विंशतिक और त्रिंशत्क नामक दो अति महत्त्वपूर्ण सिक्कों का भी पाणिनि ने उल्लेख किया है जो उनके समय में चालू थे, पर कौटिल्य को जिनका पता न था। शतमान सिक्के का आरम्भ पाणिनि से भी कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका था (लगभग ८वीं–५वीं शती ई.पू)।

विंशतिक नामक बीस माशे या चालीस रत्ती तोल के भारी सिक्के का उल्लेख अष्टाध्यायी की उल्लेखनीय विशेषता है। यह सिक्का विम्बिसार के समय अर्थात छठीं शती ई.पू. में राजगृह में चालू था। मगध जनपद के अतिरिक्त और जनपदों में भी इस मुद्रा का चलन था। इसके अतिरिक्त

पाणिनि मे जिस कार्षापण का उल्लेख है, वह भारी तोल के विशतिक से भिन्न सिक्का होना चाहिए। कौटिल्य और मनु के अनुसार कार्षापण १६ माशे या ३२ रत्ती तोल का सिक्का था। इस प्रकार अष्टाध्यायी में विशतिक और कार्षापण दोनों का उल्लेख है, जबकि अर्थशास्त्र में केवल पण का (कार्षापण का ही दूसरा नाम)। भारतीय मुद्राओं के इतिहास की दृष्टि से केवल ५वीं शती ई.पू. में ही यह सम्भव था कि विंशतिक और कार्षापण दोनों एक साथ चालू रहे हों। नन्दों ने सिक्कों के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। नन्दों के सिक्कों की निम्नलिखित विशेषताएं ध्यान में आती हैं—

१. बीस माशे के विंशतिक की जगह सोलह माशे के कार्षापण का प्रचलन।

२. पुराने सिक्कों पर बड़ी आकृति के रूप या चिह्न और छोटी आकृति के रूप मुद्रा के एक ओर ही आहत किये जाते थे जैसा कि प्राप्त नमूनों से ज्ञात होता है। नन्दों की नई मुद्राओं पर यह सुधार किया गया कि बड़े रूप चित दांव या सामने और छोटे पटदांव या पीछे आहत किए जाने लगे।

३. विंशतिक मुद्राओं पर चार रूप या बडे चिह्न होते थे। कार्षापण पर पांच रूप आहत किये जाने लगे।

४. रूप पञ्चक में सूर्य और षडर नामक चिह्न सब मुद्राओं पर आवश्यक कर दिये गये जैसा कि पहले की विंशतिक मुद्राओं पर न था।

५. प्रत्येक रूप की आकृति पहले से अधिक स्पष्ट और सरल कर दी गई किन्तु उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हो गई। विंशतिक मुद्राओं पर चिह्नों की ऐसी बहुविविधता न थी जैसी कार्षापण मुद्राओं पर।

मुद्राओं की साक्षी के आधार पर पाणिनि को विम्बिसार और कौटिल्य के मध्य में अर्थात् छठीं और चौथी शती के मध्य में रखना होगा। अतएव पांचवीं शती का मध्यभाग अष्टाध्यायी की मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण सामग्री की व्याख्या के लिए सर्वाधिक समीचीन है।

मनुष्य नाम

मनुष्य नामो के सम्बन्ध में पाणिनीय सामग्री काल विषयक ऊपर की सम्भावना का समर्थन करती है। ब्राह्मण और उपनिषदों के युग मे केवल गोत्र नामों का प्रचार था। मौर्य युग में नक्षत्र नामों की खूब प्रथा थी और नामों को संक्षिप्त भी किया जाने लगा था। अष्टाध्यायी में बीच की वह स्थिति है जब गोत्रनामों और नक्षत्रनामों का एक साथ प्रचार था। गोत्र नाम प्राचीन वैदिक प्रथा के अनुकूल थे। नक्षत्र नामों का आरम्भ गृह्यसूत्रों के युग से हुआ। गोत्रनाम को संक्षिप्त करना सम्भव न था। अतएव मनुष्य नामों को संक्षिप्त करने के लिए जो विशेष नियम पाणिनि ने दिये हैं वे नक्षत्र नामों अथवा इतर नामों में ही सम्भव थे। प्राचीन पालि साहित्य में गोत्रनाम और नक्षत्रनाम दोनों का एक सा प्रचार है। अतएव उसे पाणिनीय युग के अधिक निकट मानना होगा।

पाणिनि और जातक

कितने ही शब्दों की दृष्टि से पाणिनि की भाषा जातकों की शब्दावली से अपेक्षाकृत पूर्वकालिक थी। किन्तु कुछ शब्दों में दोनों में आश्चर्य–जनक सादृश्य है। उदाहरणार्थ–द्वैप, वैयाघ्र और पाण्डुकम्बल शब्द पाणिनि और जातक दोनों में आये हैं। ये शब्द पालि गाथाओं में है जो कि जातकों का प्राचीनतम अंश था। दोनों की भाषा का सान्निध्य पाणिनि को पञ्चम् शती ई.पू. में रखने में संगत हो जाता है।

वास्तव में पाणिनि के काल के विषय में इतने विवाद एवं मत प्रचलित हैं कि कुछ निश्चयात्मक कहना कठिन लगता है। फिर भी ऐतिहासिकों एवं आलोचकों के अधिकतम मान्य मतों के आधार पर पाणिनि का काल पांचवीं शताब्दी ई.पू. ही उचित जान पड़ता है।

द्वितीय-सोपान

द्वितीय-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित राजनीति व्यवस्था

राजतंत्र और शासन

पाणिनि के युग में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तन्त्र थे। राजा जिस तन्त्र में अधिपति हो उसे राज्य कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में जिन शासन पद्धतियों का उल्लेख है, जैसे– भोज्य, साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य आदि उनमें राज्य का भी परिगणन है। एक जनपद की भूमि पृथिवी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था जबकि इसके विपरीत उससे विस्तृत भू–प्रदेश या समस्त देश के लिये सर्वभूमि शब्द था और वहाॅ का शासक सार्वभौम कहलाता था। अपने जनपद के राज्य से आगे बढ़कर जो राजा अनेक जनपदों तक अपने राज्य का विस्तार करता वह साम्राज्य पदवी का अधिकारी होता था और जो सर्वभूमि के अधिकतम क्षेत्र का आधिपत्य प्राप्त करता वह सार्वभौम कहलाता था। महाभारत के आदिपर्व में महाराज भरत के लिये सार्वभौम संज्ञा का प्रयोग किया है।[1] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार सार्वभौम राजा सर्वपृथिवी विजय के अनन्तर अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता था।[2]

राजा के लिये ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्दों का प्रयोग होता था। सूत्र यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी में उन प्रयोगों को नियमित किया गया है जिनसे जनपद के राजा का नाम सूचित किया जाता था।

---

१. महाभारत, आदि पर्व ६६/४५–४६

२. आपस्तम्ब ३०/१/१)

भाष्य में एक उदाहरण है– अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः अर्थात् पञ्चाल जनपद ब्रह्मदत्त राजा के अधिकार मे है या इसे इस प्रकार भी कह सकते थे– अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्त. अर्थात् पञ्चाल जनपद मे ब्रह्मदत्त राजा है। ईश्वर शब्द के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि प्राचीन साहित्य में प्रायः वह राजा या पृथिवीपति के लिये प्रयुक्त हुआ है, भगवान के लिये नहीं। निघण्टु में राष्ट्री, अर्य, नियुत्वान्, इन और ईश्वर पर्याय हैं। सूत्र २/४/२३ 'सभा राजामनुष्यपूर्वा' में भाष्य में राजा को इन और ईश्वर का पर्याय कहा है। पाणिनि ने अर्य को स्वामी का पर्याय माना है– अर्यः स्वामि वैश्ययोः ३/१/१०३। जिस पुरुष में ऐश्वर्य रहे वह स्वामी कहलाता था– स्वामिन्नैश्वर्ये ५/२/१२६। ईश्वर या राजा की अधिकार शक्ति या वर्चस्व को ऐश्वर्य कहते थे। पतञ्जलि ने कहा है कि 'स्वामी' शब्द में ऐश्वर्य का अर्थ प्रत्यय के कारण नहीं आता, वरन् उस शब्द का प्रातिस्विक अर्थ है। ज्ञात होता है कि ऐश्वर्य सम्पन्न स्वामी आरम्भ में राजा के लिये ही प्रयुक्त होता था।

राजा को भूपति भी कहा जाता था। इस शब्द में भी 'ऐश्वर्य' उसके पतित्व या आधिपत्य की विशेषता थी– पत्यावैश्वर्ये ६/२/१८। अतएव भूपति का अर्थ साधारणतया भूस्वामी ऐसा नहीं था, अन्यथा वह किसान के लिये भी प्रयुक्त हो जाता, किन्तु पृथिवी के स्वामित्व की ईश्वरता या ऐश्वर्य जिसमें हो वही भूपति कहलाता था। यह स्थिति राजा की ही थी। स्वामी और ईश्वर के साथ पठित अधिपति शब्द का कुछ विशेष पारिभाषिक अर्थ भी था। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची में आधिपत्य एक प्रकार की शासन प्रणाली की संज्ञा है। पड़ोसी जनपदों पर उस प्रकार का अधिकार जिसमें वे अधिपति को कर देना स्वीकार करें, आधिपत्य कहलाता था।[१] साम्राज् शब्द मो राजि समः क्वौ ८/३/२५ विशिष्ट राजपदवी का सूचक था। महाभारत में सम्राज् को कृत्स्न भाक् कहा गया है अर्थात् वह शासन प्रणाली जो औरों से स्वत्व या अधिकारों को छीनकर आत्मसात् कर लेती हैं एवं साम्राज्य में विलीन होने पर पुनः उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह जाता।[२]

१. महाभारत, आदि पर्व १०३/१, १०५/११–१५, २१, हिन्दू राजतंत्र, जायसवाल पृ. २२५
२. सम्राज् शब्दो हि कृत्स्नभाक् – महाभारत, सभापर्व १४/२

महाराज शब्द का दो बार उल्लेख अप्टाध्यायी मे आया है। शब्द रुप एक होते हुये भी महाराज वहॉ देवता के लिये प्रयुक्त है।— महाराज प्रोष्ठपदाट्ठञ् ४/२/३५ महाराजो देवतास्य महाराजिकम्, महाराजाट्ठञ् ४/३/६७ महाराजो भक्तिरस्य महाराजिकः। वैसे महाराज प्राचीन राजनीति का पारिभाषिक शब्द भी था और एक गणराज्य का नाम भी था।

राजसभा २/४/२३

मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त बड़ी सभा राजसभा कहलाती थी। अनुश्रुति के अनुसार विन्दुसार की राजसभा में पांच सौ सदस्य थे। राजसभा के उदाहरणों में भाष्य में चन्द्रगुप्तसभा, पुण्यमित्र सभा के नाम हैं।

सूत्र अशाला च ४/२/२४ और सूत्र सभा राजामनुष्यपूर्वा ४/२/२३ साथ मिलाकर विचार करें तो ज्ञात होता है कि राजसभा के दो अर्थ थे, एक सभासदों का समूह और दूसरे वह भवन जहाँ सभा होती थी। वैदिक युग में भी सभा शब्द के ये दोनों अर्थ थे।[1] वैदिक कालीन सभा खम्भों के आधार पर टिकी होती थी, जैसा सभास्थाणु शब्द से सूचित होता है। चन्द्रगुप्त सभा का पुरातत्त्व गत प्रमाण मिल गया है। प्राचीन पाटलिपुत्र के उत्खनन में लगभग अस्सी पाषाणस्तम्भों पर उत्तम्भित विशाल सभा के अवशेष मिले हैं। ये स्तम्भ वैदूर्य के समान मृष्ट या चमकीले हैं। यही मौर्य युग की शिल्पकला थी। चन्द्रगुप्त की जो विद्वत्सभा थी उसका विवरण यूनानी लेखकों ने दिया है। पूर्वमौर्ययुग में काष्ठशिल्प का प्रचार या जैसा ४/२/२३ सूत्र पर सुरक्षित काष्ठसभा उदाहरण से सूचित होता है। भास ने राजप्रासादों के निर्माण में काष्ठशिल्प की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2]

---

१. वैदिक इण्डेक्स २/४२६

२. कन्यापुरप्रासादः एष तु काष्ठकर्मबहुलतया समासन्नजालत्वाच्च —अविमारक, भासनाटकचक्र पृ. १४२

राजकृत्वा ३/२/६५

वैदिक युग में जिन रत्नी नामक अधिकारियो को राजकृत (राजा के बनाने वाले) कहा जाता था,[१] पाणिनि ने उनके लिये 'राजकृत्व' शब्द का प्रयोग किया है– राजनि युधिकृञः ३/२/६५; राजानम् कृतवान् इति राजकृत्वा। रामायण में भी मन्त्रियों को राजकर्तार कहा गया है।[२]

युवराज ४/२/३६

राजा के पुत्रों को राजपुत्र एवं राजकुमार कहा जाता था। राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे (१) बालक राजा– राजा चासौ कुमारश्च। (२) राज्ञः कुमारः अर्थात् राजा का कुमार पुत्र। सभी राजपुत्रों में महिषी का ज्येष्ठ पुत्र युवराज होता था जिसे आर्यकुमार कहा जाता था। आर्य ब्राह्मण और आर्यकुमार दोनों में आर्यशब्द राजशास्त्र का पारिभाषिक था जो विशिष्ट पद या अधिकार का सूचक था।[३] जातकों में आर्यकुमार को उपराजा कहा गया है। एक जातक में राजा के दो पुत्रों में से ज्येष्ठ उपराजा और कनिष्ठ सेनापति नियुक्त किया गया है। राजा की मृत्यु के पश्चात् उपराजा राजा एवं सेनापति उपराजा बन गया।[४]

मन्त्रिपरिषद् ४/३/१२३, ५/२/११२

पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का उल्लेख किया है– १. सामाजिक परिषद्, २. चरणों के अन्तर्गत विद्या सम्बन्धी परिषद्, ३. राजनैतिक मन्त्रिपरिषद्। परिषद् का सदस्य पारिषद या पारिषद्य कहलाता था। (पारिषदोण्यः ४/४/४४४)। पारिषद विशेषण उसी के लिये प्रयुक्त होता था जिसका परिषद में बैठने का न्याय्य अधिकार था। सामाजिक परिषद् गोष्ठी या समाज की भाँति मनोरञ्जन की संस्था थी, जिसमें सम्मिलित होने वाले सदस्य पारिषद्य कहलाते थे।

---

१. अथर्ववेद ३/५/६/७

२. समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् – रामायण, अयोध्या. ७६/१

३. समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसे 'आर्य' कहकर पिता ने युवराज चुना था – आर्यो हीत्युपगुह्य।

४. जातक ६/३०

राजनीति से सम्बन्धित परिषद् वस्तुतः मन्त्रिपरिषद संस्था थी। जो राजा परिषद् के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे उनके लिये 'परिषद्वलो राजा' यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था– रजः कृष्यासुति परिषदो वलच् ५/२/११२। बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों में इस परिषद का उल्लेख आता। महासीलव जातक में राजा के अमात्यों की परिषद् को सुविनीत कहा गया है।[1] सुविनीता शब्द भी राजनीतिक परिभाषा से सम्बन्ध रखता है, जिसे कौटिल्य ने विनयाधिकार और पाणिनि ने वैनयिक कहा है। उसी 'विनय' से युक्त मन्त्रिपरिषद् 'विनीत' कहलाती थी। सब मन्त्री अपने कार्य सम्पादन में राजनीतिक अनुशासन से युक्त होते थे। अशोक ने कहा है कि अत्यावश्यक कार्यों पर विचार करने के लिये परिषद् का अधिवेशन तुरन्त बुलाना चाहिए– आचयिक = आत्ययिक। अर्थशास्त्र में मन्त्रिपरिषद् के संगठन के विषय में पूरा विवरण दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि राजतंत्र में उस समय परिषत् का निश्चित स्थान और अधिकार माना जाता था।[2] मन्त्रिपरिषद् के साथ कार्य करने वाला राजा इस अर्थ का द्योतन कराने वाला परिषद्वलो राजा यह सटीक शब्द भाषा में चल गया था।

महिषी ४/४/४८

भारतीय राजतंत्र में पट्टमहादेवी या महिषी की वैधानिक स्थिति थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के साथ उसका भी सिंहासन पर महाभिषेक किया जाता था। पाणिनि ने महिषी का उल्लेख करते हुये उसे मिलने वाले धर्मतः प्राप्य या धर्म्य देय का उल्लेख किया है जो माहिष कहलाता था– अण् महिष्यादिभ्यः ४/४/४८, महिष्याधर्म्य माहिषम्। इसी गण में महिषी के बाद प्रजावती (राजा की अन्य रानियों) का उल्लेख है। उन्हें मिलने वाला धर्म्य (आचारयुक्त) देय प्राजावत था। माहिष और प्राजावत धर्म्य देय वह पूजावेतन था जो समयाचार या क्रम प्राप्त बन्धेज के

१. एवं सुविनीता किस्स परिसा, जा. १/२६४
२. अर्थशास्त्र १/११

अनुसार पट्टमहादेवी और दूसरी रानियों को पाने का अधिकार था। कौटिल्य ने इसकी मात्रा दी है। तदनुसार राजमहिषी को ४८००० पण और कुमार माता (दूसरी रानी) को १२००० पण वार्षिक भत्ता देय था।[1] महिषी के अतिरिक्त और सब रानियाँ प्रजावती कहलाती थी। बुद्धमाता के अतिरिक्त शुद्धोदन की दूसरी रानी प्रजावती गौतमी थी। पाणिनि ने असूर्यपश्या स्त्रियों का उल्लेख किया है, जिसे टीकाकार राजदाराः मानते हैं। ये राजाओं के अन्तःपुर या अवरोध में रहने वाली स्त्रियाँ थीं, जिन्हें अशोक के लेखों में 'ओरोधन' कहा है।

सभ्य ४/४/१०५

जिस प्रकार परिषद् की सदस्यता की साधुता (योग्यता या अधिकार) रखने वाले के लिये पारिषद्य शब्द था, उसी प्रकार सभा की सदस्यता के लिये जिनकी साधुता थी वे सभ्य कहे जाते थे— सभाया यः ४/४/१०५, सभायां साधुः इसके लिये प्राचीन वैदिक शब्द सभेय था— ढश्छन्दसि ४/४/१०६। वैदिक सभा में ब्राह्मण मघवन्त ही सदस्य हो सकते थे, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।[2]

पुरोहित ५/१/१२८

कौटिल्य के अनुसार मुख्यमंत्री के बाद पुरोहित के पद का महत्व होता था और उसके बाद सेनापति का और तब युवराज का।[3] वेद और दण्डनीति दोनों का पाण्डित्य पुरोहित के लिये आवश्यक था। पाणिनि ने पुरोहितादिगण में पुरोहित का उल्लेख करते हुये उसके कर्म, भाव और पद को पौरोहित्य कहा है— पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक् ५/१/१२८ पुरोहितस्य भावः कर्म च। पत्यन्त शब्दों के अन्तर्गत सेनापति के कर्म और भाव को सेनापत्य कहा गया है। इसी प्रकार राजा का कर्म और पद राज्य कहा जाता था।

१. अर्थशास्त्र ५/६
२. वैदिक इण्डेक्स २/४२६
३. अर्थशास्त्र ५/३

अषडक्षीण मन्त्र ५/४/७

अष्टाध्यायी मे अषडक्षीण विशिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ है कि जिसे छः आँखों ने न देखा हो— (अ+षड्+अक्ष+ईन)। काशिका में इसके अर्थ की वास्तविक परम्परा का उल्लेख किया है— अषडक्षीणो मन्त्रः। यो द्वाम्यामेव क्रियते न बहुभिः अर्थात् अषडक्षीण उस मन्त्र या राजा के परामर्श को कहते हैं जो दो के साथ किया जाय बहुतो के साथ नहीं। इसका तात्पर्य था वह अतिगुप्त मन्त्र जो केवल राजा और प्रधानमंत्री या आर्यब्राह्मण के बीच, जिसमें और मन्त्री सम्मिलित न किये गये हों। ऐसा मन्त्र साधारण न होता था। अतिमहत्त्वपूर्ण राजरहस्य का द्योतक होने के कारण मन्त्रिपरिषद् की शब्दावली में उसके लिये पृथक् शब्द की आकांक्षा स्वाभाविक थी। इसी को दूसरे शब्दों में कहा गया— षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः। छः कानों के बीच गया हुआ मन्त्र फूट जाता है, गुप्त नहीं रहता है। गोस्वामी तुलसी दास ने भी तो यही कहा है।[1] सौभाग्य से कौटिल्य ने इस संस्था पर ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार राजा कितने मन्त्रियों से परामर्श करे अर्थात् मन्त्रिपरिषद् में मन्त्रियों की संख्या क्या हो, इस प्रश्न पर प्राचीन आचार्यों के कई मत थे। पिशुन, पाराशर, विशालाक्ष और भारद्वाज के मतों का उल्लेख करके कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि मन्त्रियों की संख्या तीन या चार होनी चाहिये।[2] इस विषय में भारद्वाज कर्णिक का मत सबसे उग्र था।[3] राजा को उचित है कि गुह्य मन्त्र के सम्बन्ध में अकेला ही विचार करे, अर्थात् एक स्वयं और एक मुख्यमंन्त्री ही मन्त्र करें। इसी प्रकार मन्त्र 'अषडक्षीण' कहलाता था जो केवल राजा और मुख्यमन्त्री की 'चार आँखों' तक सीमित रहता था। भारद्वाज कारण देते हैं कि अधिक मन्त्रियों के बीच में गया हुआ गुह्यमन्त्र फिर गुह्य नहीं रह सकता, वह फूट जाता है।[4]

---

१. छठें श्रवन यह परत कहानी।
   नाश तुम्हार सत्य मम बानी।। – रामचरित मानस, वा.का. १६५/२

२. अर्थशास्त्र १/१५

३. गुह्यमेको मन्त्रयेतेति भारद्वाजः – अर्थ. १/१५

४. मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्ति – अर्थ.– १/१५

अषडक्षीण मन्त्र राज्य के आत्यायिक अर्थात् आवश्यक कार्यो से सम्बन्धित होते थे। कौटिल्य ने और अशोक ने शिलालेख छः में आत्ययिक कार्यों के विषय में मन्त्रणा करने का उल्लेख किया है।[१] यहाँ परामर्श की दो कोटियां हैं– मन्त्रिणः, मन्त्रिपरिषद्। आवश्यक कार्य के विषय मे राजा पहले मन्त्रियों से परामर्श करे और सम्भव हो तो सारी मन्त्रिपरिषद् के साथ भी। मन्त्रिणः पद से तात्पर्य मुख्यमंत्री, दो मन्त्री, तीन या चार चुने हुये मन्त्रियों से है।

मुख्यमन्त्री या आर्यब्राह्मण ६/२/५८

आर्यो ब्राह्मण कुमारयोः सूत्र ६/२/५८ में आर्यकुमार शब्द युवराज के लिये और आर्यब्राह्मण शब्द मुख्यमंत्री के लिये प्रयुक्त हुये हैं। अगले सूत्र राजा च ६/२/५६ में पाणिनि ने राजब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया है। कर्मधारय समास में राजब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण जाति का राजा ऐसा लिया जाता था। उसी का प्रत्युदाहरण तत्पुरूष समास में राजब्रह्मण शब्द राजा के ब्राह्मण अर्थात् मुख्यमंत्री का वाचक था। राजा का ब्राह्मण वही था जिसका संकेत पाणिनि ने ब्राह्मणमिश्रो राजा सूत्र में किया है।

ब्राह्मणमिश्रो राजा ६/२/१५४

राजसंस्था के इतिहास की दृष्टि से पाणिनि का ६/२/१५४ सूत्र मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ महत्त्वपूर्ण है।

'तृतीयान्त समास में मिश्र शब्द अन्तोदात्त होता है, यदि उसके पहले उपसर्ग न हो और उसका अर्थ सन्धि न हो।

यहाँ सन्धि शब्द सूत्र की कुञ्जी है। कौटिल्य ने इसका जो परिभाषात्मक अर्थ दिया उसकी परम्परा हमें काशिका में सुरक्षित मिलती है।[२] यहाँ सन्धि का तात्पर्य है– परस्पर समझौता। शर्तनामे के द्वारा दोनों का

---

१. आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्। अर्थ. १/१५

२. असन्धाविति किम्। ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणैः सह संहित एकार्थ्यमापन्नः। सन्धिरिति हि पणवन्धेनैकार्थ्यम् उच्यते– काशिका ६/२/१५४

आपस में इस प्रतिज्ञा से बंध जाना कि यदि तुम यह करोगे तो मै यह करुँगा, इसका नाम पणबन्ध या सन्धि है। कौटिल्य ने 'पणबन्धः सन्धिः' यही परिभाषा दी है।[१] सन्धि राजतंत्र का शब्द था। इस पृष्ठभूमि में ब्राह्मण मिश्र राजा प्रत्युदाहरण साभिप्राय हो जाता है। जो राजा ब्राह्मण के साथ सन्धि या पणबन्ध करता था उसके लिये भाषा में इस सार्थक शब्द का नया प्रयोग प्रचलित हुआ था। तीन प्रश्न है– किस ब्राह्मण के साथ और किस प्रकार की सन्धि राजा करता था और यह किस युग की प्रथा थी ? इन तीनों का उत्तर भारतीय राजतंत्र के इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार है–

पाणिनि ने आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ६/२/५८ सूत्र में जिसे आर्यब्राह्मण कहा है, वही यह ब्राह्मण था जिसके साथ राजा का पणबन्ध होता था। आर्य ब्राह्मण मन्त्रिपरिषद् या पाली शब्दों में 'अमच्च परिसा' में सर्वप्रधान मुख्यामात्य होता था। आर्य उसकी पदवी या सम्बोधन था। 'आर्य' चाणक्य उसी पद का सूचक है। प्रत्येक परिषद्वल राजा का 'परिषद्वल' विशेषण तभी तक सार्थक था जब तक वह परिषद् के मुख्यमंत्री या आर्यब्राह्मण के साथ अपनी सन्धि का पालन करता था। यह राजतंत्र में मन्त्रिपरिषद् की बड़ी विजय थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मन्त्रिपरिषद् कहने–सुनने के लिये या राजा की निरंकुश इच्छा का खिलवाड न थी। वह राजा पर सच्चा अंकुश रखती थी और उसे भी अनुचित कार्य करने से रोक देती थी। अशोक और रुद्रदामन् की परिषद् इसके उदाहरण हैं। प्रियदर्शी अशोक ने राजकोष में से बौद्ध संघ को अधिक धन देना चाहा तो उसे परिषद् ने रोक दिया।[२]

राजा और ब्राह्मण के बीच की सन्धि के वास्तविक स्वरुप का यही संकेत है। राजा राज्याभिषेक के समय पहले कठोर शपथ लेता था और तब राज्यासन पर बैठता था। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक में वह शपथ दी हुई है– राजा कहता था, "जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के बीच में जो, मेरी सन्तति,

१ अर्थशास्त्र ७/१

२. प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति – के.सी श्रीवास्तव पृ २३२

धन, आयुष्य और यश है वह सब नष्ट हो जाय, यदि प्रजाओं से मैं द्रोह करुँ।" यह अभिषेक शपथ संविधान की कुञ्जी थी, इसी कारण राजा की परिभाषा चरितार्थ होती थी।[१] प्रजा से द्रोह न करुँ का निर्देशात्मक पक्ष यह था कि प्रजा का रञ्जन करुँ। व्यवहार में प्रजा रञ्जन की कसौटी या मर्यादा क्या थी ? यह उसी प्रकार थी जैसी आज है, अर्थात् मन्त्रिपरिषद् के साथ राजा का एकार्थ्य भाव या राजा के पणबन्ध की सच्चाई। इसका स्वरुप वही था जो मनु ने लिखा है अर्थात् राजा षाड्गुण्य के विषय में अपने मुख्यमंत्री से अवश्य परामर्श करें।[२] जब तक राजा मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से शासन करता वह प्रजा रञ्जन की कसौटी पर खरा उतरता यानि कि वह प्रजाओं से द्रोह न करने की अपनी अभिषेक शपथ को पालने वाला समझा जाता था।

प्रश्न उठता है कि मुख्यमंत्री के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। यह उस युग की परम्परा थी कि त्यागी विद्वान राजशास्त्रवेत्ता ही मुख्य मंत्री होते थे और उनकी पदवी ब्राह्मण थी। कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि जिस क्षत्र को 'ब्राह्मण' का समर्थन प्राप्त है, जिसे अपनी परिषद के अन्य मन्त्रियों के परामर्श का लाभ प्राप्त है, जो शास्त्र का पालन करता है, वह अजित प्रदेशों को भी अपने विजित में ले आता है।[३] मुख्यमंत्री जाति से ब्राह्मण हो या न हो, इसका राजनीति की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं था, यह तो राजशक्ति को प्रजाहित में मर्यादित और सञ्चालित करने वाले 'आर्य' व्यक्ति को खोज निकालने और उसके महनीय पद की सुरक्षा का प्रश्न था। कौटिल्य या मनु के समय में आर्य ब्राह्मण के पद का विकास वैदिक युग से चला आया था। वहाँ स्पष्ट ही यह आदर्श व्यवहार में मान्य था– ब्राह्मण क्षत्रेण च श्रीः परिगृहीता भवति अथवा पत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्पञ्चौ चरतः सह। मनु ने भी इस सिद्धान्त को अविकल ग्रहण किया था।[४]

---

१. 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्', 'राजा प्रजा रञ्जन लब्धवर्णः – महाभारत, शान्तिपर्व २६/१३६

२. मनु. ७/५८

३. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १/१८

४. मनु. ६/३२२

अब तीसरे प्रश्न पर विचार करना चाहिए। भारतीय इतिहास के किस युग में 'परिषद्वलो राजा' और 'ब्राह्मण मिश्रो राजा' ये दो सूत्र व्यवहार मे सत्य थे ? जो प्रमाण सामग्री उपलब्ध है उसके साक्ष्य से ज्ञात होता है कि महाजनपद युग से मौर्य युग तक राजा के साथ उसके प्रधान मन्त्री का भी उतना ही महत्त्व था। साहित्य में कई महामन्त्रियों के नाम आते हैं जैसे— मगधराज अजातशत्रु के महामन्त्री वर्षकार, कोसलराज विडूडभ के महामन्त्री दीर्घ चारायण, वत्सराज उदयन के महामन्त्री यौगन्धरायण, मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री आर्य चाणक्य, अशोक के राधागुप्त, अवन्तिराज पालक के महामन्त्री आचार्य पिशुन (अर्थशास्त्र के टीकाकार)। ये सभी महामन्त्री अपने शासकों की नीति के सर्वांश में निर्देशकर्ता थे।

राजकुल के प्रतीहारी परिचारक

राजकुल से सम्बन्धित बहुत से अधिकारी होते थे जैसे— राजा के निजी अंगरक्षक, दौवारिक या प्रतीहार, स्वागतिक अधिकारी। अष्टाध्यायी में इन सबका नाम सहित उल्लेख आया है।

अङ्गरक्षक ६/२/६०

राजा के शरीर की रक्षा करने वाले अंगरक्षक अधिकारी, जिन्हें कौटिल्य ने आत्मरक्षितक[1] कहा है, उन्हें ही पाणिनि ने राजप्रत्येनस् (षष्ठी प्रत्येनसि ६/२/२०) कहा है। वृहदारण्यक उपनिषद् में उग्र, सूतग्रामणी और प्रत्येनस् का उल्लेख है।[2] यहाँ उसका अर्थ दण्डरक्षक किया गया है। राजा की शरीर रक्षा का कार्य बहुत दायित्वपूर्ण था और कौटिल्य ने उसके लिये विशेष विधान का आदेश दिया है। पाणिनि से ही यह ज्ञात होता है कि राजकुमारों को यह दायित्व या सम्मानित पद सौंपा जाता था। आदिः प्रत्येनसि सूत्र ६/२/२७ में कुमारप्रत्येनाः शब्द का अर्थ है वह राज कुमार जो राजा का प्रत्येनस् या अंगरक्षक नियुक्त किया गया हो।

---

१ अर्थशास्त्र २/३१

२ वृहदारण्यक उपनिषद् ४/३/४३. ४४

दौवारिक ७/३/४

राजकुल में द्वार का सर्वोच्च अधिकारी दौवारिक [illegible] था। राजकुल की ड्यौढी से सम्बन्धित सब प्रकार का दायित्व इसी अधिकारी के ऊपर होता था। बाण ने हर्ष चरित में अनेक प्रकार के राजकुल के सेवकों का उल्लेख किया है, जैसे– वाह्य प्रतीहार, आभ्यन्तर प्रतीहार, महाप्रतीहार, उन सबके ऊपर दौवारिक संज्ञक महाप्रतीहार का पद हर्ष के समय तक था। सम्भवतः उसके बाद भी यह परम्परा रही। दौवारिक का पद वैदिक युग से ही आरम्भ हो गया था। कौटिल्य ने दौवारिक का वार्षिक वेतन २४,००० पण दिया है अर्थात् महिषी का १/२ और प्रजावती रानियों का दो गुना जिससे इस पद के महत्व की सूचना मिलती है।[1]

स्वागतिक अधिकारी ७/३/७

राजा की दिनचर्या नियत रहती थी। कौटिल्य ने उसका उल्लेख किया है। तदनुसार कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त रहते थे जो उन विशेष मुहूर्तों में राजा के स्वागत और कुशल प्रश्न आदि द्वारा उनकी दिनचर्या को नियमित बनाने में सहायक होते थे। राजसभा में राजा के पधारने पर जो स्वागत करे वह स्वागतिक कहलाता था। राजा के प्रातः काल नित्यकर्म से निवृत्त होने पर जो उसके लिये स्वस्तिवाचन पाठ करता था वह सौवास्तिक कहलाता था। कात्यायन ने इनका और उल्लेख किया है– (१) सौखशायनिक जो प्रातः काल राजा के निद्रा त्याग करने पर उसके रात में सुखपूर्वक शयन करने के विषय में प्रश्न करता था अर्थात् उस विषय के कुछ श्लोक पाठ करता था। (२) सौखरात्रिक – वह व्यक्ति जो सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत होने के सम्बन्ध में कुशल प्रश्न पूछता था। (३) सौस्नातिक – वह व्यक्ति जो राजा के स्नानादि से निवृत्त होने पर कुशल प्रश्न से उसका स्वागत करता था– सुस्नातं पृच्छति। कालिदास ने राजा की दिनचर्या से सम्बन्धित सौस्नातिक का उल्लेख किया है।[2]

---

१. दौवारिक ...... सन्निधातारः चतुर्विंशति साहस्राः। –अर्थशास्त्र ५/३

२. रघुवंश ६/६१

जो व्यक्ति राजा के लिये सुखशय्या तयार करके अपनी जीविका चलाते थे उसे सौखशय्यिक कहते थे। बुद्ध ने चार प्रकार की शय्याओ मे चौथी तथागत शय्या उस शय्या को कहा है जो रागद्वेष रहित होने के कारण तथागत की सुखनिद्रा थी। बुद्ध ने उसे ही सच्ची सुखशय्या माना था।[१] इससे यह सूचित होता है कि राजा एवं आढ्य पुरुषों के लिये जो विशिष्ट शय्या पुष्पादि से तैयार की जाती थी वही मूल में सुखशय्या थी, उसके लिये विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे जो सौखशय्यिक कहलाते थे।

शासन

एकराज शासन में सर्वोपरि व्यक्ति राजा था। उसकी सहायता के लिये मन्त्रियों की परिषद् होती थी। सभा नाम की बड़ी समिति भी थी। परिषद् में मन्त्रियों की संख्या का निर्देश अष्टाध्यायी में नहीं है किन्तु जैसा कौटिल्य ने लिखा है कि उनकी संख्या प्रशासन की आवश्यकतानुसार नियत की जाती थी फिर भी पाणिनि ने आर्यब्राह्मण या मुख्यमन्त्री, पुरोहित आर्यकुमार या युवराज[२] और सेनापति का सूत्रों में उल्लेख किया है। ये महत्वपूर्ण अधिकारी थे अतएव भाषा में इनसे सम्बन्धित विशेष शब्द प्रचलित थे।

शासनतन्त्र के अधिकारी

सूत्रों में कई प्रकार के शासनिक अधिकारियों का उल्लेख आया है। शासन के सञ्चालन के लिये अधिकारी तन्त्र का संगठन हो चुका था। सरकारी सेवक साधारणतया युक्त २/३/४०, ६/२/८१ या आयुक्त कहे जाते थे जो कि राजकीय कार्य का निर्वाह करते थे। कौटिल्य ने राजा के आयुक्त पुरुषों का उल्लेख किया है।[३]

१. अङ्गुत्तर निकाय ३/३४
२. अशोक के ब्रह्मगिरि लघुशिलालेख में इसे ही आर्यपुत्र कहा गया है।
३. अर्थशास्त्र १/१५

जब राजसेवक विशेष काम पर नियुक्त किये जाते थे तब वे नियुक्त कहलाते थे और उस दायित्व के अनुसार उनका नाम पडता था— तत्र नियुक्तः ४/४/६६। काशिका में इनके कुछ प्राचीन उदाहरण इस प्रकार हैं— शुल्कशाला में नियुक्त अधिकारी शौल्कशालिक, खानों में नियुक्त आकरिक, बाजार के प्रबन्ध में नियुक्त आपणिक, गुल्म या सेना की टुकडी का प्रबन्धक गौल्मिक और राजद्वार के प्रबन्ध में नियुक्त दौवारिक कहलाता था। नियुक्त अधिकारियों के कुछ नाम आगारान्तात् ठन् ४/४/७० सूत्र में भी अन्तर्निहित है, जैसे— कोष्ठागारिक, जिसका पद अध्यक्ष कोटि का था। देवागारिक देवताध्यक्ष का ही दूसरा नाम था।

राजा के निजी परिचारक या परिपार्श्विक भी नियुक्त कोटि के अधिकारियों में गिने जाते थे। अधि नियुक्ते ६/२/७५ सूत्र पर उल्लिखित उदाहरणों से ये नाम ज्ञात होते हैं— क्षत्रधार, तूणीधार (तरकश उठाने वाला) भृङ्गाधार (जल की झारी, आचमन, सुखमार्जन आदि का प्रबन्ध करने वाला)।

अध्यक्ष

शासन के सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अधिकारी अध्यक्ष कहलाते थे। उनका उल्लेख पाणिनि ने विभाषाध्यक्षे ६/२/६७ सूत्र में किया है। कौटिल्य के अनुसार अध्यक्ष एक–एक विभाग के सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी होते थे। अर्थशास्त्र में २५ अध्यक्षों के नाम आये हैं,जिनमें अश्वाध्यक्ष और गवाध्यक्ष भी है, जिनका उल्लेख काशिका ने ६/२/६७ के उदाहरणों में किया है।

पाणिनीय सूत्रों में शासन के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के आये हुये नामों का विवरण हम निम्नवत् व्याख्यायित कर रहे हैं।

युक्त २/३/४०, ६/२/८१

कौटिल्य के अनुसार युक्त उन सरकारी सेवकों की सामान्य संज्ञा थी, जो प्रत्येक अध्यक्ष के नीचे उस–उस विभाग में कार्य करते थे। प्रत्येक

अधिकरण या विभाग में युक्त, उपयुक्त और तत्पुरुष—तीन प्रकार के अधिकारी होते थे।[1] पाणिनि ने भी युक्त सञ्ज्ञक अधिकारियो का उल्लेख किया है ६/२/८१। प्रत्येक विभाग के अधिपति अध्यक्ष और उनके निर्देश से कार्य का निर्वाह करने वाले युक्त, ये ही दो प्रकार के अधिकारी शासन की सच्ची रीढ़ थे। अष्टाध्यायी में दोनों के उल्लेख से सूचित होता है कि जिस सुविहित शासन संस्था का कौटिल्य ने उल्लेख किया है वह उनसे एक दो शती पूर्व में ही अस्तित्व में आ चुकी थी। सम्भवतः नन्दवंशीय सम्राटों में शासन की उस पद्धति का संगठन किया गया था।

पाणिनि ने अश्वशाला के युक्त अधिकारियों को युक्तारोही कहा है ६/२/८१। अर्थशास्त्र में उन्हें ही युक्तारोहक[2] कहा गया है। उन्हें प्रतिवर्ष ५००—१००० कार्षापण तक वेतन दिया जाता था। युक्तारोहक अधिकारियों का कर्तव्य अविनीत हाथी और घोड़ों को शिक्षा देकर उन्हें आरोहण के योग्य बनाना था।[3]

पाणिनि ने पालसंज्ञक छोटे अधिकारियों का भी उल्लेख किया है ६/२/७८ गोतन्तियवं पाले। पाणिनि के अलावा महाभारत में गोपाल, तन्तिपाल एवं सभापाल का उल्लेख है।[4] विराटपर्व में तन्तिपाल को बडा अधिकारी कहा गया है।[5] जिसकी अधिकारिता में और भी पाल काम करते थे।

युक्तसंज्ञक अधिकारियों में काशिका के गोंसख्य और अश्वसंख्य की तरह महाभारत में पशुगणना का उदाहरण वनपर्व के घोषयात्रा प्रकरण में आया है जहाँ दुर्योधन के घोष में पोषित गाय, बछडे, बछिया और ग्याभिन ओसर, इन सब की आयु, रंग और लक्षणों को ठीक प्रकार से निश्चित करने का उल्लेख है। इस गणना को स्मरण कहा गया है, जो कि इस कार्य के लिये पारिभाषिक शब्द था।[6]

---

१. सर्वाधिकरणेषु युक्तोपयुक्त तत्पुरुषाणाम् – अर्थ. २/५
२. अर्थशास्त्र ५/३
३. अविधेय हस्त्यश्वारोहण समर्थः – गणपति शास्त्री, अर्थशास्त्र की टीका में ५/४
४. महाभारत, आदि पर्व २२२/१६
५. महाभारत, विराट पर्व ११/८
६. महाभारत, वनपर्व २३६/४०

कारकर और क्षेत्रकर ३/२/२१

पाणिनि ने ३/२/२१ सूत्र मे कारकर और क्षेत्रकर का उल्लेख किया है, जो विशेष अधिकारियों की संज्ञायें थी। खेतों की नाप–जोख करने वाले एवं बन्दोबस्त करने वाले अधिकारी क्षेत्रकर कहे जाते थे, जिन्हे पाली साहित्य में रज्जुगाहक कहा गया है। कुरुधम्म जातक में एक अमात्य का उल्लेख है जो जनपद में जाकर खेतों को नापता और उनकी गिनती करता था। उसकी रस्सी में दो खूँटी बँधी रहती थी। रज्जुग्राहक अपने सिरे की खूँटी गाड़ देता था और खेत का स्वामी दूसरा सिरा पकड़े हुये खेत में जाता और खूँटी को यस्थास्थान गाड़कर नाप कराता था।[1]

कारकर संज्ञक अधिकारी विशेष प्रकार के राजकीय करों को वसूल करने वाले थे। सूत्र ६/३/१० में कुछ विशेष करों का उल्लेख है जो देश के पूर्वी भाग में प्रचलित थे और विशेष अवसरों पर प्रजा जिन्हें देने के लिये बाध्य की जाती थी। पाली साहित्य में भी इस नाम के अधिकारियो का उल्लेख है। पालि सामञ्ञफलसुत्त में एक गरीब किसान राजा के अधिकारी को गाँव में आया हुआ देखकर समझता है कि या तो वह कारकारक था, जो विशेष प्रकार की लाग (कार) वसूल करने के लिये आया था या वह रासिवड्ढक था जो खलिहान में रास नाप कर राजा का भाग ले जाने के लिये आया था।[2] कुरुधम्मजातक में रासिवड्ढक या रास नापने वाले सरकारी नौकर द्रोणामापक कहा गया है। राजा को उपज का छठाँ भाग राजग्राह्य अंश के रुप में दिया जाता था, परवर्तीकाल तक भाग ही कहा जाता रहा है। उस भागसंज्ञक अन्न को नापने वाला वर्तन भागद्रोण कहलाता था। पाणिनि ने किसी विशेष नाप के लिये षष्ठक शब्द का उल्लेख किया है।[3] यह शब्द राजग्राह्य षष्ठ भाग के लिये ही रुढ ज्ञात होता है। इसे केवल षाष्ठ और षष्ठ भी कहा जाता था, जैसे यह कहा जाय कि हमें षष्ठ चाहिये तो उसका अभिप्राय उपज के छठें भाग से था।

---

१. जातक ३/२७६

२ इध ते अस्स पुरिसो कस्सको गहपतिको कारकारको रासिवड्ढको – दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, २/३८

३ मानपार्श्वङ्गयोः कन् लुकौ च ५/३/५१ षष्ठको भागः मानं चेत् तद् भवति

आयस्थान ४/४/७५

राष्ट्र या जनपद मे आय के स्रोतो को पाणिनि ने [illegible] कहा है। ठगायस्थानेभ्यः ४/३/७५ का उद्देश्य आयवाची शब्दों को नियमित करना है। जो आय जिस स्रोत से प्राप्त होती है वह उसी नाम से पुकारी जाती थी। वर्तमान में भी राजकीय आय–व्यय के लेखे में आयवाची शब्दो की योजना इसी नियम के अनुसार की जाती थी। पतञ्जलि ने प्राचीन उदाहरणों का संकलन करते हुये शुल्कशाला या चुंगी से प्राप्त होने वाली आय को शौल्कशालिक (शुल्कशालायाः आगतः) आपण या तहबाजारी से प्राप्त आय को आपणिक एवं गुल्म से प्राप्त आय को गौल्मिक कहा है।[1] पाणिनि ने स्वयं भी शुल्क–शाला में ली जाने वाली चुंगी का उल्लेख किया है– तदस्मिन् वृद्ध्यार्थ लाभ शुलकोपदा दीयते ५/१/४७। चुंगी की जितनी रकम हो उसी के अनुसार माल का नाम पड़ता था जैसे– पञ्चक दशकः, शतिकः, साहस्रः, वह माल जिस पर ५, १०, १००, १००० कार्षापण चुंगी दी गई हो।

शौण्डिक ४/३/७६

पाणिनि ने शौण्डिक नामक आय का उल्लेख किया है– शुण्डिकादिभ्योऽण् ४/३/७६। मद्य विभाग से प्राप्त आय का यह नाम था। कौटिल्य के अनुसार मद्य तैयार करने का अधिकार मौर्य शासन ने अपने लिये सुरक्षित कर रखा था जिसकी व्यवस्था सुराध्यक्ष करता था।[2] मद्य खींचने का भबका शुण्डिका कहलाता था क्योंकि उसी में हाथी के सूँड जैसी लम्बी नली लगी रहती थी। उसके नमूने तक्षशिला से प्राप्त हुये हैं।

दूत ४/३/८५ प्रतिष्कष ६/१/१५२

राजशासन में दूत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद में दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उनकी संज्ञा प्रसिद्ध होती थी।

---

१. भाष्य, ४/२/१०४

२ सुराध्यक्षः सुराकिण्व व्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धादारे वा तज्जातसुराकिण्व व्यवहारिभि. कारयेत्– अर्थ. २/२५

जैसे— कोसल जनपद का जो दूत मथुरा मे नियुक्त किया जाता था उसे कोसल जनपद में माथुर के नाम से जाना जाता था (तद् गच्छति पथि दूतयोः ४/३/८५)। प्रतिष्कष भी दूत की सज्ञा थी।[1] कौटिल्य ने इन्हें ही जङ्घारिक कहा है।[2] एक, दो, पाच, दस योजन इत्यादि भिन्न–भिन्न दूरियों तक समाचार ले जाने वले धावन उन–उन नामों से प्रसिद्ध होते थे। पाणिनि ने एक योजन दौड़ने वाले धावन की यौजनिक कहा है— योजन गच्छति ५/१/७४। कात्यायन ने सौ योजन तक जाने वाले धावन के लिये यौजनशतिक इस विशेष शब्द का उल्लेख किया है। धावन संस्था का मौर्य शासन में महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य ने एक योजन से सौ योजन की दूरी तक सन्देश ले जाने वाले धावनों का उल्लेख किया है। उन्हें दस योजन की दूरी तक प्रति योजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिये वेतन उत्तरोत्तर बढता जाता था अर्थात् दो गुना हो जाता था।[3] शासन में धावन संस्था का संगठन और देशों में भी था।

दूत लोग लिखित शासन ले जाते थे या मौखिक सन्देश कहते थे। कौटिल्य ने पहले को शासनहर एवं दूसरे को परिमितार्थ दूत कहा है।[4] इनमें परिमितार्थ शासनहर से उच्चकोटि का था। परिमितार्थ दूत जो मौखिक सन्देश या मुख वचन ले जाता था उस सन्देश को वाचिक कहते थे— वाचो व्याहृतार्थायाम् ५/४/३५।[5] उस मौखिक सन्देश को सुनकर जो कर्म किया जाता उसके लिये कार्मण यह पारिभाषिक संज्ञा थी।[6]

---

१. वार्तापुरुषः सहायः पुरोयायी प्रतिष्कर्ष इत्यभिधीयते – काशिका ६/१/१५२
२. अर्थशास्त्र२/१
३. **दशपणिको योजने दूतः मध्यमः।**
दशोत्तरे द्विगुण वेतन आयोजनशतादिति – अर्थ ५/३
४. अर्थशास्त्र १/१२
५ पूर्वमन्येन उक्तार्थत्वात् सन्देशवाग् व्याहृता इत्युच्यते – काशिका ५/४/३५
६. तद्युक्तात् कर्मणोऽण् वाचिकं श्रुत्वा तथैव यत्कर्म क्रियते तत्कार्मणमित्युच्यते – काशिका ५/४/३६

पाणिनि ने कर्तृकर इस विशेष संज्ञा का उल्लेख किया है ३/२/२१। यह शब्द अस्पष्टार्थ और साहित्य मे अप्रयुक्त है। कौटिल्य ने सबसे ऊँची कोटि के दूत को निसृष्टार्थ कहा है– अमात्यसम्पदोपतो निसृष्टार्थः। उसे ही अवसृष्टार्थ भी कहते थे और सम्भवतः इसी से हिन्दी का बसीठ शब्द बना है। उसे राजा की ओर से कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु सब प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। महाभारत में कृष्ण पाण्डवों की ओर से दुर्योधन की सभा में अवसृष्टार्थ दूत बनाकर भेजे गये थे। ऐसा ज्ञात होता है कि कर्ता इसी प्रकार के राजप्रतिनिधि की संज्ञा थी, और उसे नियुक्त करने वाला राजा या मुख्यामात्य कर्तृकर कहलाता था।

वैतनिक ४/४/१२

वेतनादिभ्यो जीवति ४/४/१२ सूत्र से वेतनभोगी सेवकों को वैतनिक कहा गया है। कौटिल्य ने भृत्यभरणीय प्रकरण में राजकर्मचारियो के वेतनों की लम्बी सूची दी है।[1] पतञ्जलि ने भी भृत्यभरणीय का उल्लेख किया है। वेतन देने का आधार मासिक था। भाष्य के अनुसार उसे भृतकमास कहते थे। कर्मनिष्ठ अधिकारियों को अर्थशास्त्र में कर्मण्य कहा गया है।[2] पाणिनि ने भी कर्मण्य शब्द का उल्लेख किया है।

आक्रन्द ४/४/३८

आक्रन्द के यहॉ जाने वाले धावन या दूत को पाणिनि ने आक्रन्दिक कहा है ४/४/३८ ऐसा प्रतीत होता है कि काशिका में इसका ठीक अर्थ नहीं दिया है क्योंकि वहॉ रोने या विलाप की जगह को आक्रन्द कहा गया है जबकि आक्रन्द वस्तुतः राजनीति का पारिभाषिक शब्द था। कौटिल्य ने इसका वास्तविक अर्थ देते हुये राज्य के पृष्ठभाग में बसने वाले मित्र राजा को ही आक्रन्द बताया है।[3] इसी शब्द का मनुस्मृति ७/२०७ में उल्लेख है

---

१ अर्थशास्त्र ५/३

२. अर्थशास्त्र ५/३ एरावता कर्मण्या भवन्ति।

३. पश्चात् पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः–अर्थशास्त्र ६/२, महाभारत, शान्तिपर्व ६६/१९, ६६/३२

जिसकी व्याख्या टीकाकार कुल्लूक ने करते हुये लिखा है कि पीठ पीछे का शत्रु राजा पार्ष्णिग्राह और मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था। आक्रन्द की सहायता से पार्ष्णिग्राह के बल का उच्छेद या निराकरण किया जाता था। इस प्रकार अपने आक्रन्द राजा के पास जो दूत भेजा जाता था उसे आक्रन्दिक कहा जाता था।

सौराज्य ८/२/१४

शासन का आदर्श सौराज्य अर्थात् शान्तिपूर्ण सुव्यवस्थित राज्य था। सौराज्य अवस्था प्राप्त करने का साधन जनपद में राजा की प्राप्ति थी। राजा के अभाव में जनपद की स्थिति अराजक राष्ट्र की हो जाती थी एवं ऐसी स्थिति में प्रजा में मात्स्यन्याय की स्थिति होती एवं सबल अबलों का भक्षण करते थे। अतएव राजनीति विशारदों का विचार था कि मात्स्यन्याय से बचने के लिये राजा का होना अत्यावश्यक है। इस पृष्ठभूमि में देखने से राजन्वान् शब्द के विशिष्ट अर्थ का द्योतन होता है, इसे ही पाणिनि ने राजन्वान् सौराज्ये ८/२/१४ द्वारा अभिव्यक्त किया है। सौराज्य एवं अराजक राज्य का भेद रामायण एवं महाभारत में भी स्पष्ट किया है।[1]

सेना

सेनानी २/४/२

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २/४/२ में सेना के विविध अंगों का उल्लेख है। ये सेनाङ्ग कहलाते थे और प्राचीनकाल से चार ही चले आते थे, जैसे– हस्त्यारोह, अश्वारोह, रथी और पदाति।[2] दो सेनाङ्गों की पारस्परिक घनिष्ठता सूचित करने के लिये उनके नामों के जोड़े एकवचनान्त प्रयुक्त होते थे, जैसे– रथिकाश्वारोहम्, रथिक–पादातम्। पैदल सेना पदाति कहलाती थी। साल्व जनपद के पैदल सैनिकों का विशेष रुप से उल्लेख

---

१. रामायण, अयोध्याकाण्ड अध्याय ६७, महाभारत, शान्तिपर्व, अ. ६८

२. हस्त्यारोहा, रथिनः सादिनश्च पदातयश्च, महा., उद्योग. ३०/२५

किया गया है– अपदातौ साल्वात् ४/२/१३५ सूत्र। अश्वारोही सादि कहलाते थे ६/२/४१।[1] सॉडनी सवारों का विशेष रुप से उल्लेख किया गया है, जिन्हें उष्ट्रसादि कहते थे। ऊँट और खच्चरों की मिली जुली टुकड़ी उष्ट्रवामि कहलाती थी उष्ट्रसादिवाम्योः ६/२/४०।

सेना के साथ अनेक प्रकार के अन्य अधिकारी थी रहते थे जो उसकी बहिरंग व्यवस्था के लिये आवश्यक थे।

सैनिक ४/४/४५

सेना में भर्ती होने वाले सिपाही सैनिक या सैन्य कहलाते थे। सेनायां वा, सेनां समवैति सैन्यः सैनिकः। घुडसवार सेना का अध्यक्ष अश्वपति ४/१/८४ और सेनाध्यक्ष सेनापति कहलाता था। प्रयाण करती हुयी सेना के साथ जाने वाला व्यक्ति सेनाचर ३/२/१७ कहलाता था।

युद्ध करने वालों का नामकरण उनके हथियारों के नाम से किया जाता था, आज भी यही पद्धति है। प्रहरणम् ४/४/५६ सूत्र से इसी का प्रमाण मिलता है, जैसे– आसिक (तलवार से लडने वाला), प्रासक (प्रास या भाले से लड़ने वाला), धानुष्क (धनुष–बाण से लड़ने वाला)। परश्वध या फरसे से लड़ने वाला पारश्वधिक ४/४/५८ और शक्ति युद्ध के सैनिक शात्तीक और लठैत या लाठी से युद्ध करने वाले लोगों के लिये याष्टीक शब्द था ४/४/५६। पतञ्जलि ने लिखा है कि हथियार चलाने वालों का बोध प्रत्यय के बिना भी हथियार के नाम से ही हो सकता है जैसे– कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशय।

यह उल्लेखनीय है कि शात्तीकी याष्टीकी नामक स्त्री सैनिकों का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है। इन शब्दों का निर्माण कात्यायन के एक विशेष वार्तिक से सम्भव होता है, पाणिनि ने केवल पुल्लिंग प्रयोग शात्तीक् और याष्टीक का विधान किया है। इस सम्बन्ध में इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि अर्थशास्त्र में राजभवन में स्त्री सैनिकों की प्रथा को रक्षार्थ

---

१ सादिपदातियूनाम् – महाभारत, भीष्म पर्व. ६०/२०

नियुक्त किये जाने का उल्लेख है।[1] यह सम्भव है कि स्त्री सैनिको की प्रथा का आरम्भ मौर्य युग से ही हुआ हो। कवचधारी सैनिको की विशेष टुकडी कावचिक कहलाती थी ४/२/४१) समुचित आयु मे जो व्यक्ति सैन्य सेवा के योग्य हो जाता, उसे कवचहर इस विशेष शब्द से अभिहित किया जाता था। कवच के लिये वर्म शब्द भी था और कवच धारण करने के लिये संवर्मयति यह विशेष शब्द व्यवहार में आने लगा था।

शस्त्रास्त्र ४/४/५७

आयुधों के लिये प्रहरण ४/४/५७ शब्द का प्रयोग किया गया है। सूत्रों में अनेक प्रकार के आयुधों के नाम आये हैं जैसे– धुनष, शक्ति, परश्वध, कासू (लम्बा बरछा), कासूतरी (छोटा बरछा), हेति (एक विशेष प्रकार का फेंक कर मारने वाला अस्त्र) और असि या तलवार जिसे कौक्षेयक भी कहते थे।

हखामनि साम्राज्य के राजा ख्शयार्श ने जब यूनान पर चढ़ाई की तो उसकी सेना में गान्धार देश के सैनिक भी थे। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा है कि वे छोटे बरछों से युद्ध करने में दक्ष थे।[2] पाणिनि स्वयं भी गान्धार देश के थे, सम्भवतः वे जिस कासूतरी नामक प्रहरण का उल्लेख करते हैं वह यही था। पाणिनि ने धनुष वाची कार्मुक शब्द की व्युत्पत्ति कर्मन् शब्द से की है– कर्मण् उकञ् ५/१/१०३। सायण ने उसका सम्बन्ध कृमुक शब्द से माना है।[3] कौटिल्य के अनुसार कार्मुक ताड़ के पेड़ की लकड़ी से बनाया जाता था।[4] पाणिनि ने भी ताल के धनुष का उल्लेख किया है– तालादिम्योऽण् ४/३/१५२ अन्तर्गण सूत्र तालाद् धनुषि। पाणिनि ने बड़े धुनष को महेष्वास कहा है। कौटिल्य ने धनुष का परिमाण ५ हाथ या ६.५ फुट माना है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि महेष्वास नामक लम्बे धनुष

---

१. स्त्री गणैर्धन्विभिः – अर्थ. १/२०
२. प्राचीन इतिहास, दत्त मजूमदार रायचौधुरी पृ. ५४
३. शतपथ ब्राह्मण ६/६/२/११ पर टीका–सायण
४. अर्थ. २/१०
५ अर्थ. १०/५

की यही ऊँचाई थी। राजा पुरु ने सिकन्दर के विरुद्ध [illegible] (झेलम) के तट पर जो युद्ध लडा था, उसमे उनके पदाति सैनिक इसी प्रकार के धुनष से लड़े थे। धनुष का एक सिरा पैर से साधे रहते थे और एक हाथ से धनुष की मूँठ पकड़कर दूसरे हाथ से लम्बे और भारी बाण चलाये जाते थे और कैसा भी वर्म या कवच उनकी मार को न सह पाता था।

बाणों में लोहे के पत्र लगे होते थे जिसके कारण बहुत ही पीड़ा होती थी– सपत्र निष्पत्रादतिव्यथने। प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि मालवों के दुर्ग मे युद्ध करते हुये सिकन्दर की कमर में ऐसा ही एक सपत्र बाण उसके कवच को छेदता हुआ घुस गया था, जिसके कारण उसे मरणान्तक पीडा हुई थी।

आयुध या शस्त्र द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों के लिये आयुधीय यह विशेष शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था– आयुधेन जीवति ४/४/१४। पाणिनि ने इस प्रकार के आयुधीय लोगों के संघों का विशेष रूप से उल्लेख किया है, जो आयुधजीवी कहलाते थे। कौटिल्य ने इन्हें ही शास्त्रोपजीवी कहा है। वाहीक प्रदेश एवं उत्तर पश्चिमी प्रदेश में इस प्रकार के अनेक छोटे–बडे आयुधजीवी संघ थे।

पाणिनि ने प्रहरण क्रीड़ाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है ४/२/५७। इन क्रीड़ाओं में धनुष या तलवार चलाने में दक्ष नवयुवक अपना कौशल दिखाते थे। पाणिनि ने लिखा है कि युद्धों का नामकरण दो प्रकार से किया जाता था, एक तो उन योद्धाओं के नाम से जो उसमें भाग लेते थे जैसे– स्यान्दनाश्व (वह युद्ध जिसमें रथी और घुड़सवारों ने भाग लिया हो), आहिमाल (वह युद्ध जिसमें अहिमाल नामक योद्धा लडे हों, और दूसरे उस प्रयोजन के नाम से, जिसके लिये युद्ध किया गया हो जैसे– सौभद्र (सुभद्रा के कारण हुआ युद्ध), गौरिमित्र (जो युद्ध गौरिमित्रा के कारण हुआ हो)। संग्रामे प्रयोजनं योद्धृभ्यः ४/२/५६।

परिष्कन्द ८/३/७५

प्राच्य भरत या कुरुपञ्चाल देश में परिस्कन्द और अन्यत्र परिष्कन्द उच्चारण था— परिस्कन्दः प्राच्य भरतेष ८/३/७५। महाभारत मे इन्हे चक्ररक्षक कहा गया है।[1] चतुर्थ शती ई.पू. की भारतीय सेना में इस प्रकार के परिस्कन्द सैनिकों का उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने किया है। उनके अनुसार युद्ध में सम्प्रयुक्त रथ में चार घोड़े जोते जाते थे और उनके साथ छह सैनिक रहते थे— दो सारथी, दो ढाल लिये हुये ढलैत और दो धुनर्धारी जो रथ के दोनों ओर बाण छोड़ते हुये युद्ध करते थे।[2] इन छः में दो ढलैतों को चक्ररक्ष या परिस्कन्द समझना चाहिये।

आयुधजीवी संघ

पाणिनि ने कुछ संघों को आयुधजीवी संघ कहा गया है।[3] इस प्रकरण में लगभग चालीस संघों के नाम आये हैं। आयुध से जीविका निर्वाह करने वाला आयुधीय या आयुधिक कहलाता था— आयुधाच्छ च ४/४/१४, आयुधेन जीवति। कौटिल्य ने दो प्रकार के जनपदों का उल्लेख किया है— आयुधीयप्राय और श्रेणीप्राय।[4]

सूत्रकार ने आयुधजीवी संघों का सूक्ष्मता से पर्यवलोकन किया था। उन्होंने अपनी सामग्री को चार भागों में बाँटा है १. वाहीक देश के आयुधजीवी संघ, २. पर्वत या पहाड़ी इलाकों का आयुधजीवी, ३. पूग नामक आयुध जीवी संघ जो ग्रामीण नामक नेताओं की अध्यक्षता में संगठित थे, ४. व्रात, जो सर्वथा उत्सेधजीवी दशा में जीवन व्यतीत करते थे और जिनमे संघ प्रणाली नाम मात्र को ही थी। वाहीक अर्थात् व्यास से सिन्ध तक के प्रदेश में फैले हुये यौधेय, क्षुद्रक, मालव आदि गणराज्य अपेक्षाकृत उच्चकोटि की संघ प्रणाली के अनुयायी थी।

---

१ रथाना चक्र रक्षाश्च — महाभारत, भीष्म पर्व १८/१६

२. मैक्रिण्डल, सिकन्दर का आक्रमण, पृष्ठ २६०

३. आयुधजीवीसंघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ५/३/११४

४. यदि वा पश्येत् आयुधीयप्रायः श्रेणीप्रायो मे जनपद. — अर्थ. ७/१

पर्वतीय संघ ४/३/६१

उत्तर पश्चिमी भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने से दो बडे पहाड़ी प्रदेश दिखाई पडते हैं। एक त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक का प्रदेश और दूसरा सिन्ध से कापिशी—कम्बोज तक का विस्तृत भू—भाग। ये पहाडी राज्य अधिकांश में आयुधजीवी संघ शासन के मानने वाले थे— आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते ४/३/६१। महाभारत में गान्धारराज शकुनि को पर्वतीय कहा गया है। इसी सूत्र के परिप्रेक्ष्य में काशिका में पर्वतीय आयुधजीवियों के उदाहरणास्वरुप — ह्रदगोलीयाः, जिनका मूलस्थान ह्रदगोल था, सम्भवतः जलालाबाद के दक्षिण हड्डा नामक स्थान जिसे ह्वेनसांग ने हि—लो कहा, अन्धकवर्तीयाः रोहितगिरीयाः जो कि रोहितगिरि या रोह में फैले थे उल्लेखनीय है। रोह अफगानिस्तान का मध्ययुगीन नाम था। महाभारत में लोहित प्रदेश के दस मण्डल राज्यों का उल्लेख है[१] जो कि अफगानिस्तान का पूर्वोत्तर और मध्यभाग था जो आजकल कोहिस्तान का क्षेत्र है। पुराणों में जिन जनपदो को पर्वताश्रयी कहा है वे ही पाणिनि के पर्वतीय आयुधजीवी संघ थे। उनमें नीहार या नगरहार की भी गणना है जो आधुनिक जलालाबाद का प्राचीन नाम था जहाँ ह्रद्गोल या हड्डा का पहाड़ी प्रदेश है। हंसमार्ग (हरदिस्तान के उत्तर हुञ्जा) नामक जनपद की गणना भी पर्वताश्रयी देशों में थी अतएव ये कश्मीर और अफगानिस्तान के पहाडी प्रदेशों के निवासी थे जिन्हें पर्वतीय आयुधजीवी कहा गया है। महाभारत में प्रतीच्याः पार्वतीयाः अर्थात् पश्चिमी भारत के पर्वतीयों का उल्लेख है।[२] यहीं स्पष्टतः उन्हें संघागिरिचारिणः एवं गिरिगह्वरवासिनः कहा गया है[३] जबकि महाभारत में ही अन्यत्र गिरिगह्वर नामक जन या कबीले का उल्लेख है[४], जिसका शब्दार्थ है पहाड़ों की गुफा या गारों में रहने वाले कबायली लोग। महाभारत में ही यह भी स्पष्टतः उल्लिखित है

१. महाभारत, सभा पर्व २४/१६
२. महाभारत, उद्योगपर्व ३०/२४
३. महाभारत, द्रोण पर्व ६३/४८
४ महाभारत, भीष्म पर्व ६/६८

कि सिन्धु नदी के किनारे पर बसी हुयी महाबली जातिया ग्रामणी सज्ञक नेताओं की अध्यक्षता में संगठित थीं और ग्रामणीय कहलाती थी।[1]

इस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी में उल्लिखित संघों के भौगोलिक विस्तार का त्रिविध परिचय प्राप्त होता है। (क) वाहीक के आयुधजीवी जो सिन्धु के पूर्व में व्यास सतलज तक फैले हुये थे। इन्हीं के समीप पर्वतीय आयुधजीवियों का एक विशेष वर्ग त्रिगर्त या कुल्लू कांगड़ में था जिन्हें पाणिनि ने त्रिगर्तषष्ठ ५/३/११६ नाम दिया है। (ख) पूग नामक आयुधजीवी जो सिन्धु के दोनों किनारों के प्रदेश में ग्रामणी संविधान द्वारा संचालित थे, ये वही थे जिन्हें आजकल कबायली कहा जाता है। (ग) पर्वतीय आयुधजीवी जिनमें अफगानिस्तान, हिन्दुकुश और दरदिस्तान की अनेक पहाड़ी जातियां थीं। इनमें से बहुत से व्रात स्थिति में जीवन व्यतीत करते थे। ये प्राचीन व्रात्य थे। इन तीनों में जो सघ मध्यप्रदेश के आर्य सन्निवेशों के पड़ोसी थे, वे सभ्यता और शासन की दृष्टि से अधिक उन्नत थे, जो प्रत्यन्त निवासी थे वे उतनी ही पिछड़ी दशा में थे।

श्रेणी २/१/५६

इस सूत्र में पाणिनि ने उस प्रक्रिया की कुछ झांकी दी है, जिसके अनुसार विभिन्न आयुधजीवी जातियाँ एक अवस्था को पीछे छोड़कर उससे विकसित दूसरे रुप में अपने को संगठित कर लेती थीं जैसे—अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणिकृताः इस प्रयोग की पृष्ठभूमि में ऐसे जन थे, जो पहले श्रेणि रुप में संगठित नहीं थे, किन्तु संघीय नवचेतना के प्रभाव में आकर श्रेणि संविधान को अपना लेते थे। श्रेणियों के संगठन पर कुछ प्रकाश वर्तमान अग्रवाल जाति की अनुश्रुतियों से पड़ता है। कहा जाता है कि अगरौहे में राजा अग्रसेन की सन्तति इनकी पूर्वज थी और वे क्षत्रिय से वैश्य वन गये। अगरोहे की खुदाई में प्राप्त सिक्कों में अग्रोदक नगर के अग्र जनपद का उल्लेख है। अग्रजनपद की वार्ताशास्त्रोपजीवी श्रेणि या

---

१. **सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः** – महाभारत सभापर्व ३२/६

अग्र श्रेणि ही कालान्तर में अग्रसेन नामक मूल पुरुष मान ली गयी। किवदन्ती के अनुसार इनका संगठन कुलो पर आश्रित था जिनके हाथो में राजसत्ता केन्द्रित थी। ये अष्टादश कुल थे। उनके शतसख्यक पुत्र पौत्र थे जिनकी गणना एक लाख कही जाती है। श्रेणि मे सम्मिलित होने वाले नये कुल को एक–एक रुपया देकर लक्षाधिपति कर देने की प्रथा थी। यह अनुश्रुति श्रेणि के अन्तर्गत कुलों की समान सामाजिक स्थिति को सूचित करती है। वार्ता (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन) द्वारा जीविका निर्वाह इस श्रेणि की विशेषता थी जो अर्थ शास्त्र के वार्ताशास्त्रोपजीवी लक्षण से मिल जाती है।

पूग ५/२/५२

आयुधजीवी संघ की अपेक्षा कम एव व्रात की अपेक्षा अधिक विकसित संघ पूग थे। कई जाति या कबीलो के लोगों का संघ जिनकी जीविका या निर्वाह के साधन कई प्रकार के होते थे।[1] अधिकांश में वे लूट–मार की अवस्था के ऊपर उठकर कुछ अर्थोपार्जन का सिलसिला अपना लेते थे। इस प्रकार के संघ व्रात और श्रेणि के बीच की अवस्था में थे। श्रेणी और पूग वाद में चलकर आर्थिक संगठन भी बन गये थे किन्तु पाणिनि के काल में दोनों ही राजनैतिक संस्थाएं थी।

ग्रामणी ५/२/७८ एवं ५/३/११२

५/३/११२ सूत्र में पूगों का नामकरण दो प्रकार से सूचित किया है, एक ग्रामणी के नाम से और दूसरा अन्य आधार पर, जैसे–लाल झण्डे वाला पूग लोहध्वज कहलाता था पर देवदत्तकाः यज्ञदत्तकाः उस पूग का नाम होता था जिसका ग्रामणी देवदत्त या यज्ञदत्त हो। इस शब्दरुप की सिद्धि ''स एषां ग्रामणीः'' सूत्र से होती है जैसे–देवदत्तः ग्रामणीः एषां त इमे देवदत्तकाः। यज्ञदत्तकाः। यह प्रथा सीमाप्रान्त के कवायली क्षेत्रों अद्यावधि पर्यन्त वर्तमान है। अनेक पठान कबीलों या खेलों के नाम अपने मूल पूर्वज या संस्थापक के नाम से होते थे जैसे इसाखेल, यूसुफजई। यद्यपि अब ये

१. नाना जातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः – काशिका ५/२/५२

सब मुसलमान हो गये हैं किन्तु नामकरण की वही पुरानी प्रथा है। देवदत्तकाः, यज्ञदत्तकाः आदि ग्रामणी से बना हुआ नाम कुछ थोडे समय के लिये नहीं बल्कि पीढी दर पीढी चलता था।

प्रश्न उठता है कि स एषां ग्रामणीः सूत्र में ग्रामणी का अर्थ गॉव का मुखिया क्यों न लिया जाय इसका एक उत्तर है कि गॉव के मुखिया के नाम से ग्रामवासियों के नामकरण की प्रथा लोक में कहीं नहीं है। दूसरा प्रमाण पालि साहित्य से प्राप्त होता है जिसके अनुसार ग्रामणी दो प्रकार के होते थे, एक ग्राम–ग्रामणी दूसरे पूग ग्रामणी।[१] पाणिनि के सूत्र में ग्राम ग्रामणी नहीं पूग ग्रामणी से अभिप्राय है।

व्रात ५/३/११३

व्रात उन लड़ाकू जातियों की संज्ञा थी, जिनका आर्यों के साथ संघर्ष हुआ था और जो लूट–मार करके जीवन निर्वाह करती थीं। ऋग्वेद में आर्य योद्धाओं को 'व्रातसाहः' कहा गया है।[२] पाणिनि ने व्रात नामक संघों के नामकरण के विषय में नियम दिये हैं– व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५/३/११३। काशिका में कपोतपाकाः और व्रीहिमताः उदाहरण है। महाभारत में दार्वाभिसार और दरद् जनपद के निवासियों को व्रात कहा गया है।[३] व्रातेन जीवति व्रातीनः यह विशेष शब्द सिद्ध किया गया है ५/२/२१। वहाँ व्रात का अर्थ

---

१ यस्स कस्सचि महानाम कुलपुत्तस्स पञ्च धम्मा संविज्जन्ति,
यदि वा रञ्ञो खत्तियस्य युद्धाभिसित्तस्स,
यदि वा रट्ठिकस्य पेत्तनिकस्स,
यदि वा सेनाय सेनापतिकस्स,
यदि वा गामगामणिकस्स, यदि वा पूगगामणिकस्स,
ये वा न कुलेसु पच्चेकाधिपच्चं कारेन्ति – अंगुत्तर निकाय।
पालिटेक्स्ट सोसायटी संस्करण भाग–३ पृष्ठ ७६, जायसवाल, हिन्दू राजतंत्र

२. ऋग्वेद ६/७५/६

३. महाभारत, द्रोणपर्व ६३/४४

उत्सेध या लूटमार है।[४] भाष्य के अनुसार व्रातीनाः वही थे, जिन्हें श्रौतसूत्रों में व्रात्य कहा है। लाट्यायन श्रोत सूत्र मे व्रात्यों के लिये व्रातीन शब्द प्रयुक्त भी हुआ है।[५] पाणिनि के युग से लेकर आज तक ये उत्सेधजीवी रही है।[६] ताण्ड्य ब्राह्मण में सायण ने व्रात का अर्थ व्रात्यसमुदाय किया है।[७] वस्तुतः व्रात और व्रात्य एक ही थे।

📖📖📖📖📖

४. भाष्य में लिखा है–
नाना जातीया अनियत वृत्तय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः।
तेषां कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीनः।। –भाष्य ५/२/२१

५. लाट्यायन श्रौतसूत्र ८/५/१

६. व्रात्याः प्रसेधमानाः यान्ति अर्थात् व्रात्य लोक का उत्पीड़न या लूटमार करके रहते हैं–
टीका– लोकं आसेधन्तः त्रासयन्तः प्रशयन्तः – लाट्यायन ८/६/७

७. ताण्ड्य ब्राह्मण १७/१/५ की सायण टीका

तृतीय-सोपान

तृतीय-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित समाज

भाषा और लोक में सदा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। लोक जीवन के विविध अगों से सम्बन्धित शब्द भाषा में उत्पन्न और प्रयुक्त होते हैं शब्द भूतकालीन संस्थाओं के प्रतीक बनकर उनके स्मारक की भाँति भाषा में रह जाते हैं। महर्षि पाणिनि ने अपने समाकालीन सामाजिक जीवन का शब्दों के रुप में सूक्ष्म अध्ययन किया था और अपने शब्द शास्त्र में उन्हें स्थान दिया।

सामाजिक जीवन शीर्षक के अन्तर्गत इस अध्याय में अष्टा–ध्यायी की सामग्री के आधार पर वर्ण और जातियां, आश्रम, विवाह, स्त्रियां सामाजिक संस्थाएं, अन्न पान, वेशभूषा, वासगृह आदि पर अध्ययन किया गया है।

वर्ण एवं जाति

पाश्चात्य जगत की संस्कृति में धर्म और राज्य के बीच प्रायः संघर्ष होता रहा, भारत में प्राचीन काल में ही ऐसे शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया जिनके आधार पर भौतिक और आध्यत्मिक उपलब्धियां समान रुप से सुलभ हो सकें। वर्ण व्यवस्था इन शाश्वत मूल्यों में से एक थी। सामान्य तौर पर वर्ण व्यवस्था द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्गीकरण किया जाता है और यह समझा जाता है कि इस व्यवस्था द्वारा प्राचीन भारत में समाज को चार वर्णो में विभाजित किया गया था, किसी सीमा तक ऐसा समझा जाना

उचित ही है परन्तु सैद्धान्तिक रुप से वर्ण व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज की आधार शिला थी। प्राचीन काल मे हिन्दू समाज में [illegible] और सहकारिता की भावना प्रबल रुप से कार्यरत थी। इस भावना के अनुरुप जन्म से ही व्यक्ति के क्रिया—कलापों तथा उसकी सामाजिक स्थिति का निर्णय हो जाता था। इस व्यवस्था को मानव की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर ही इसका आरम्भ किया गया होगा। इसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था एव संगठन को स्थायित्व प्रदान करना था। इससे समाज की उन्नति हुई। प्राचीन समय में वर्ण व्यवस्था ने आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ कर समाज को समृद्ध किया। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था, साहित्य एवं संस्कृति की सुरक्षा हुई तथा उसके उत्थान में भी बडा योग मिला। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी यद्यपि व्याकरण का ग्रन्थ है फिर भी तत्कालीन समाज में प्रचलित सामाजिक जीवन का असर इस पर भी दिखाई पड़ता है। पाणिनि ने जिन शब्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया है उन शब्दों का अध्ययन ही इस शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

जाति २/१/६३

वैदिक भाषा का वर्ण शब्द व्यवहार में था किन्तु इस समय तक जाति शब्द प्रचलित हो चुका था। महर्षि के व्याकरण के अनुसार गोत्रों और चरणों की भी पृथक् जातियां होने लगी थीं। "कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने" सूत्र में जाति के विषय में पूछ—ताछ करने के लिए नियम बताया गया है। यहाँ जातिशब्द से गोत्र और चरण दोनों अभिप्रेत है। कतरकठः (इन दोनों में कौन कठ है ?), कतमकठः (इनमें कौन कठ है ?) ये दोनों उदाहरण चरण सम्बन्धी पूछताछ विषयक होने पर भी जाति परिप्रश्न के उदाहरण हैं।

वस्तुतः पाणिनि के काल में गोत्र और चरणों के भेदों के अनुसार अनेकों जातियां विकसित हो रही थी। गोत्रों के प्रकरण में जो

लगभग एक सहस्र नाम है उनका सामाजिक स्वरुप [illegible] लग जातियों के रुप में संगठित हो गया था। महर्षि के गोत्र और गोत्रावयव तत्कालीन समाज की सच्चाई थी। आज भी पीढी दर पीढी इनमे से बहुत से नाम प्रचलित हैं।

शूद्र २/४/१०

महर्षि ने दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है–एक अनिरवसित जो हिन्दू समाज के अंग थे और दूसरे निरवसित।

२/४/१० सूत्र पर पतंजलि का विशद् भाष्य शूद्रो की शुंग कालीन स्थिति का परिचायक है। 'अनिरवसित शूद्र' से तात्पर्य आर्यावर्त की सीमान्तर्गत रहने वाले शूद्रो से है। इसके विपरीत पतञ्जलि ने आर्यावर्त की सीमा के बाहर के शूद्रों में कुछ विदेशियों का उल्लेख किया है जैसे–शक, यवन। पतंजलि के अनुसार मृतप, चाण्डाल आदि निम्न शूद्र जातियां प्रायः ग्राम, घोष, नगर आदि आर्य बस्तियों में घर बनाकर रहती थी। पर जहां गांव और शहर बहुत बड़े थे वहां उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लों में रहने लगे थे, ये समाज में सबसे निम्न कोटि के शूद्र थे। इनसे ऊपर बढ़ई, लोहार बुनकर, धोबी तथा अयस्कार, तन्तुवाय, रजक आदि जातियों की गणना भी शूद्रों में थी। वे यज्ञ सम्बन्धी कुछ कार्यो में भाग ले सकते थे, परन्तु भोजन के बर्तनों में उनके सथ छुआ छूत बरती जाती थी।

वैश्य ३/१/१०३

पाणिनि ने वैश्य के लिये 'अर्य' पद का उल्लेख किया है (अर्यः स्वामि वैश्ययोः)। गृहस्थ के लिये गृहपति शब्द आया है। मौर्य–शुंग काल में समृद्ध वैश्य व्यापारियों के लिये गृहपति शब्द प्रयुक्त होने लगा था, जो बौद्ध–प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे।

क्षत्रिय ४/१/१६८

पाणिनि नि इस स्थिति को [illegible] किया है कि अनेक जनपदों के नाम वही थे ओ उसमें रहने वाले क्षत्रियो। पंचाल क्षत्रियो के रहने के कारण ही आरम्भ में जनपद का नाम भी पंचाल पडा था। बाद में जनपद नाम की प्रधानता हुई और जनपद के नाम से वहा के प्रशासक क्षत्रियों के नाम जिन्हें अष्टाध्यायी में जनपदिन् कहा गया है, लोक प्रसिद्ध हुए। पहली स्थिति के कुछ अवशेष आज तक बचे है यथा—यौधेयों (वर्तमान जोहिये) का प्रदेश जोहियावार, मालवों का मालवा आदि। तत्कालीन संघों और जनपदों में क्षत्रियों के अतिरिक्त और वर्णो के लोग भी थे जैसे—मालव जनपद के क्षत्रिय तो मालव, किन्तु ब्राह्मण या क्षत्रियेतर को मालव्य कहा जाता था। 'मालवाः' इस बहुवचनान्त रुप में सबका अन्तर्भाव समझा जाता था।

ब्रह्मचर्य की अवधि ५।१।६४

तदस्य ब्रह्मचर्यम!' सूत्र में ब्रह्मचारियों के नामकरण की विधि बतायी गई है। जितने दिन के लिये छात्र ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा लेते थे उस अवधि के अनुसार उनका नाम पड़ता था। सूत्र के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि पन्द्रह दिन[1], एक महीना[2] या एक वर्ष[3] ब्रह्मचर्य का समय हो सकता था। वस्तुतः परिमित अवधि के लिए चरणों में प्रविष्ट होकर अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियों की यह संज्ञाए थी।

वर्तमान कालीन विश्वविद्यालयों के अल्पकालिक व्याख्यान प्रबन्ध के ढंग पर वैदिक चरणों में भी अध्ययन की सुविधाएं मिलने लगी थी तभी मासिक और अर्धमासिक ब्रह्मचारी जैसे प्रयोग अस्तित्व मे आये होंगे। सभी प्रकार के छोटे बड़े अध्ययन और ग्रन्थ—पारायणों

---

१. अर्धमासिकः ब्रह्मचारी

२. मासिकः

३. सांवत्सरिकः

में भाग लेने की विद्यार्थियों को छूट थी। किसी यज्ञ विशेष की विधि जानने की इच्छा से, विशेष [illegible] कण्ठ करने के लिये या कुछ ऋचाओं का पारायण सीखने के लिये एक पखवाडे या एक महीने जैसे थोड़े समय के लिये भी छात्र 'अर्धमासिक' या 'मासिक' [illegible] बन सकते थे।

अडतालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का व्रत लेने वाले छात्र 'अष्टाचत्वा–रिंशक' या 'अष्टाचत्वारिंशी' कहलाते थे–कात्यायन। गृह्य सूत्रों से ज्ञात होता है कि गुरुकुलवास की यह अधिकतम अवधि थी। अडतालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत 'आदित्य व्रत' कहलाता था जिसकों धारण करने वाले ब्रह्मचारियों की संज्ञा आदित्यव्रतिक थी। 'आदित्य साम' पर्यन्त अध्ययन का ब्रत 'आदित्य व्रत' कहा जाता था।[1]

पूर्व नियत उद्देश्य और परिमित काल के लिये शिक्षा की सुविधा का उल्लेख वेदान्त में भी आता है, जहॉ जिज्ञासु कुछ समय के लिए आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते हैं। विशेष उच्च शिक्षण के लिए और बढ़ी हुई ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिए इस प्रकार की व्यवस्था अत्यन्त उपयोगी थी।

ब्राह्मण ५/१/१२४

पाणिनि ने ब्रह्मन और ब्राह्मण दोनों शब्दों को पर्याय रुप में प्रयुक्त किया है। ब्रह्मन के लिए हितकारी इस अर्थ मे ब्राह्मण पद बनता था –ब्रह्मणे हितम्। महर्षि पतंजलि ने इसका अर्थ ब्राह्मणेभ्य हितम् किया है। उनका कहना है ब्रह्मन् एवं ब्राह्मण पर्यायवाची है' किन्तु यत् प्रत्यय ब्रह्मन् शब्द से ही होता है, ब्राह्मण से नहीं। पाणिनि काल में ब्रह्मन् शब्द ब्राह्मणोचित आध्यात्मिक गुण–सम्पत्ति के लिए प्रयुक्त होता था और ब्राह्मण जन्म पर आधारित जाति के लिए। ब्राह्मण

---

१. गोभिल गृह्यसूत्र ३/१/२८–३०

के भाव (आदर्श) और कर्म (आचार) के लिये [illegible] पद सिद्ध किया गया है। (गुणवचन ब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च ५/१/१२४) नाम मात्र के आचार हीन ब्राह्मण 'ब्रह्मबन्धु' कहलाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, श्रौत सूत्र एवं गृह्यसूत्रों में 'ब्रह्मबन्धु' शब्द पाया जाता है। पाणिनि के समय में केवल जाति का अभिमान करने वाले कर्म–विहीन ब्राह्मणों के लिए 'ब्रह्मबन्ध' की तरह 'ब्राह्मणजतीय' यह नया विशेषण प्रचलित हो गया था। ५/४/६ जात्यन्ताच्छ बन्धुनि सूत्र में 'बन्धुनि' पद ब्रह्मबन्धु वाले प्राचीन अर्थ अर्थात् कुत्सापरक व्यंग्य का द्योतक है। जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहचान हो वह बन्धु हुआ। नाम मात्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय जातीय, वैश्य जातीय पद व्यवहार में आते थे। महर्षि पाणिनि ने कुमहद्भ्या–मन्यतरस्याम् ५/४/१०५ सूत्र के अनुसार स्वधर्म में निरत ब्राह्मण महाब्रह्म या महाब्रह्म और आचार हीन ब्राह्मण कुब्रह्म या कुब्रह्म कहलाता था। महाब्रह्म समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठासूचक पद माना जाता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म और शील परायण ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च पद महाब्रह्म था जिसके लिये व्यक्ति विशेष योग्यपात्र समझे जाते थे। संभवतः महाब्रह्मा का पर्याय देवब्रह्मा भी था। नारद को जातक में महाब्रह्मा और काशिका में देवब्रह्मा कहा गया है।

व्रात ५/२/२१

लूट–मार कर जीविका चलाने वाले जंगली हालत में आर्यावर्त की सीमाओं पर प्राचीन काल से बसे उत्सेधजीवी लोग पाणिनि के समय में व्रात कहलाते थे। ये विशेष करके भरत के उत्तर पश्चिम कबायली इलाकों में थे। ये लोग हिन्दू समाज को ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य व्यवस्था से बाहर ही माने जाते थे। चातुर्वर्ण्य संगठन के अनुसार व्रात्यों की स्थिति ब्रात्यस्तोम करने तक शूद्रवत् जानी जाती थी।

ब्रह्मचारी ५/२/१३४, ६/३/८६

ब्रह्मचारी के लिये 'वर्णी यह नई संज्ञा प्रयोग मे आती थी जो कि संहिता और ब्राह्मण साहित्य में अविदित थी। काशिका के अनुसर तीन उच्च वर्णो के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे[1]।

एक ही चरण या वैदिक शिक्षण–संस्था में अनेक ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे और इसी कारण से वे आपस में सब्रह्मचारी कहलाते थे।[2] उदाहरणार्थ कठ चरण में पढ़ने वाले सभी छात्र कठ सब्रह्मचारी कहे जाते थे। वर्तमान समय में जिस प्रकार एक विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उपाधि के साथ शिक्षा–संस्था का नाम लेकर समान सम्बन्ध प्रकट करते हैं, कुछ इसी प्रकार की यह प्रथा थी। एक ही गुरु के शिष्य होने के कारण जो विद्या सम्बन्ध बनता था, उसका जीवन में वस्तविक उपयोग और महत्त्व था। आचार्य ब्रह्मचारी को आत्म समीप लाकर उसका उपनयन करते थे। जिसके फलस्वरुप एक ओर आचार्य और दूसरी ओर ब्रह्मचारी को संयुक्त करने वाले एक प्रकार के नये सम्बन्ध का जन्म होता था। महर्षि पाणिनि ने इसे ही आचार्यकरण १/३/३६ कहा है। इसी आचार्यकरण की व्याख्या काशिकाकार ने भी अपने ग्रन्थ में किया है।[3] इसके लिये 'उपनयते' यह विशेष क्रियापद प्रयुक्त होता था। उप पूर्वक नी धातु का इस विशेष अर्थ में प्रयोग अथर्ववेद के समय से ही आरम्भ हो गया था।[4]

छात्र दो प्रकार के थे–माणव और अन्तेवासी, इसका उल्लेख महर्षि पाणिनि ने ६/२/६६ सूत्र में किया है। पाणिनि ने माणवों को 'दण्ड–माणव' भी कहा है। ब्रह्मचारी पलाश दण्ड या आषाढ़ और अजिन रखते थे।

---

१. ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन उच्यते–काशिका ५/२/१३४
२. चरणे ब्रह्मचारिणि ६/३/८६
३. आचार्यकरणमाचार्य क्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानं आचार्यीकुर्वन् माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थ :। काशिका १/३/३६
४. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम्–अथर्व ११/५/३)

स्नातक ८/३/८६

अध्ययन समाप्त करने पर ब्रह्मचारी आचार्य की अनुमति से स्नातक बनता था। स्नात वेद समाप्तौ गणसूत्र ५/४/२६ के अनुसार वेदाध्ययन की समाप्ति पर स्नातक बनने का उचित काल समझा जाता था। विद्या–विशेष में अति प्रवीण स्नातक 'निष्णात' कहे जाते थे। पीछे चलकर यह शब्द कौशल के लिये प्रयुक्त होने लगा निनदीभ्या स्नातेः कौशले ८/३/८६। स्रग्वी पद भी सम्भवतः स्नातक के लिए ही प्रयुक्त होता था। स्रक् ब्रह्मचर्य–व्रत–समाप्ति का विशेष चिन्ह थी। अकाल में व्रत छोड़कर गृहस्थ वन जाने वाले छात्रों को व्यग्य से 'खट्वारुढ' कहा जाता था २।१।२६ चूँकि ब्रह्मचारी को खाट का प्रयोग करना निषिद्ध था इसीलिये 'खट्वारुढ़' पद निन्दार्थक माना गया।

राजन्य ५/३/११४

पाणिनि ने राजन्य के दो अर्थ बताये हैं, एक क्षत्रिय वाचक और दूसरा अभिषिक्त वंश क्षत्रियों के लिये। केवल वे क्षत्रिय कुल राजन्य कहे जाते थे जो संघ रुप में शासन में भाग लेने के अधिकारी थे, इसके लिये आचार्य ने राजन्य बहुवचनद्वन्देऽन्धक वृष्णिषु ६/२/३४ सूत्र का उल्लेख किया है। राजन्यक का हिन्दी रुप राणा है।

गृहपति ४/४/६०

विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के लिये प्राचीन संज्ञा 'गृहपति' थी। विवाह के समय प्रज्वलित हुई अग्नि को 'गार्हपत्य' कहा जाता था, क्योंकि गृहपति उससे संयुक्त रहता था। अग्नि–साक्षिक विवाह से आरम्भ होने वाले गृहस्थ जीवन में गृहपति लोग जिस अग्नि को गृहयज्ञों के द्वारा निरन्तर प्रज्वलित रखते थे, उसी के लिये 'गृहपतिना संयुक्त' यह विशेषण चरितार्थ होता है। विवाह के समय का अग्निहोम एक यज्ञ था। उस यज्ञ में पति के साथ

विधिपूर्व संयुक्त होने के कारण विवाहिता स्त्री की संज्ञा 'पत्नी, होती थी इस तरह का उल्लेख पाणिनि ने पत्युर्नो यज्ञ संयोगे ४/१/३३ सूत्र म किया है। पति–पत्नी दोनों मिलकर वैवाहिक अग्नि की परिचर्या करते थे। पुत्र–पौत्रों से सुखी सम्पन्न पति–पत्नी सुप्रज, बहुप्रज और पुत्र पौत्रीण कहलाते थे।

घर का बडा–बूढ़ा वृद्ध या वंश्य कहलाता था, इसके लिये आचार्य ने १/२/६५ एवं ४/१/१६३ सूत्र की रचना की है। कुटुम्ब के वृद्ध और युवा सदस्यों के नामों में भिन्न–भिन्न प्रत्ययों का प्रयोग होता था। गर्ग कुल के वृद्ध या वंश्य की संज्ञा 'गार्ग्य' और उसी कुटुम्ब के युवा सदस्यों की 'गार्ग्यायण' होती थी। इन दोनों शब्दों का समाजिक मूल्य था। प्रत्येक कुल को अपनी जाति की पंचायत मे वास्तविक सत्ता प्राप्त थी। कुल का बडा–बूढ़ा उसका प्रतिनिधित्व करता था। गार्ग्य के जीवन–काल में उस कुल की पगड़ी गार्ग्य के सिर ही बाँधी जाती थी और वही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधि माना जाता था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सगा बड़ा बेटा जो कल तक गार्ग्यायण था कुल के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से गार्ग्य बन जाता था। इस परिवर्तन को उस बिरादरी के समस्त कुटुम्बों के प्रतनिधि एकत्र होकर गार्ग्यायण के सिर पगड़ी बाँधकर स्वीकार करते थे और उस दिन से उह कुटम्ब के लिये गार्ग्य कहलाने लगता था।

पिता के बाद पुत्र उसके स्थान पर अपने परिवार का प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी होता था, किन्तु यदि कोई बड़ा–बूढ़ा दादा, ताऊ या चाचा उस कुटुम्ब में जीवित हो तो अपने पिता की जिस गार्ग्यायण ने गार्ग्य पद प्राप्त कर लिया था वह ताऊ चाचा आदि की दृष्टि से गार्ग्यायण ही कहलाता रहता था ४/१/१६५। जाति पंचायत में प्रायः बड़ा–बूढ़ा ताऊ चाचा ही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता रहता था। बड़े भाई के जीवित रहते हुए सभी छोटे भाई 'युवा' कहलाते थे। बड़ा भाई गार्ग्य और छोटे भाई गार्ग्यायण संज्ञा के अधिकारी थे। –भ्रातरि तु ज्यायसि ४/१/१६४।

दासी भार ६/२/४२

काशिका ने इसका अर्थ किया है दास्या भार अर्थात् वह भार जो स्वामी को दासी के कारण सहना पड़े। इसकी व्याख्या कौटिल्य के इस आदेश से प्राप्त है कि गर्भवती दासी को उसके प्रसूतिकाल के लिये अर्थव्यवस्था किये बिना जो बेंचे या गिरवी रखे उसे दण्ड दिया जाय[1]। इस प्रकार दासी के लिये अनिवार्य रुप से करने योग्य आर्थिक प्रबन्ध 'दासीभार' पद से अभिप्रेत है।

आर्य ब्रह्मण कुमार ६/२/५८

इस सूत्र में आर्य ब्राह्मण और आर्यकुमार ये शब्द आये हैं। आर्य ब्राह्मण पद मन्त्रिपरिषद् के प्रधानमन्त्री के लिये एवं आर्य कुमार पद युवराज के लिये प्रयुक्त होता था। 'ब्राह्मणमिश्रो राजा' पद मे राजा और उसके प्रधान सहायक को जो ब्राह्मण मन्त्री होता था, उल्लेख है (मिश्रो चानुपसर्गमसन्धौ)। यही आर्य ब्राह्मण कहलाता था।

स्त्री एवं विवाह

स्वकरण १/३/५६

पाणिनि ने विवाह के लिये उपयमन १/२/१६ शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या स्वकरण शब्द से इस सूत्र में की गई है। पति के द्वारा पत्नी का पाणि ग्रहण किये जाने पर विवाह संस्कार सम्पन्न समझा जाता था। इसके लिये पाणिनि ने हस्तेकृत्य एवं पाणौकृत्य इन दो शब्दों का उल्लेख किया है, जो विवाह के पर्यायवाची थे (नित्यं हस्ते पाणावुपयमने १/४/७७)। पाणिग्रहण के द्वारा ही पति–पत्नी को 'अपनी' बनाता था जिससे 'स्वकरण' पद का विवाह के

---

१. दासीं वा सगर्भामप्रतिविहितगर्भभर्मण्यां विक्रयाधानं नयतः पूर्वः साहसदण्ड
—अर्थशास्त्र ३/१३

अर्थ में प्रयोग हुआ। मनु के अनुसार केवल सवर्णा स्त्रियों के साथ विवाह पाणिग्रहण द्वारा होता था। विवाह के सम्पन्न होने मे वर के द्वारा वधू के पाणिग्रहण का महत्त्व 'पाणि गृहीती' शब्द से प्रकट होता है जो कि वार्तिककार कात्यायन के अनुसार विधिवत् परिणीता पत्नी की संज्ञा थी।[1] इसके विपरीत पाणिगृहीता शब्द विधि' वाह्य परिणीता स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था।

विवाह के फलस्वरुप पति का पत्नी पर स्वामित्व हिन्दू धर्मशास्त्र का सुविदित नियम था। कानूनी व्यक्तित्व की दृष्टि से स्त्री का पति से पृथक् कोई निजी तन्त्र प्राचीन धर्मशास्त्र में मान्य नहीं था, किन्तु दोनों का अभिन्न या एकीकृत तन्त्र समझा जाता था।[2] विवाह के समय पिता कन्या के सम्बन्ध में अपना स्वामित्व भावी पति को कन्यादान के द्वारा हस्तान्तरित करता है और पति उस दान को त्रिवाचा स्वीकार करता हुआ उस स्त्री का स्वकरण करता है अर्थात् जो वस्तु अपनी नहीं थी उसे अपनी बनाता था।

कुमारी- कौमारापूर्ववचने ४/२/१३

नारी जीवन के अनेक क्षेत्रों का अष्टाध्यायी से परिचय मिलता है। कुमारी, पत्नी, माता, छात्रा, आचार्या आदि दशाओं में उसके जीवन की कुछ झाँकी तत्कालीन भाषा के शब्दों में आ गई है। आयु के प्रथम भाग में 'वयसि प्रथमे' ४/१/२० वह कुमारी किशोरी और कन्या कहलाती थी। कुछ स्त्रियां आजीवन अविवाहित रह जाती थी, वे बड़ी आयु होने पर भी कुमारी ही कहलाती थी। (कुमार्यां वयसि ६/२/६५) जैसे—वृद्ध कुमारी, जरत्कुमारी। कन्यावस्था में ही अवैध सम्बन्ध से जो पुत्र उत्पन्न होता था वह 'कानीन' कहलाता (कन्यायाः कानीन च ४।१।११६) मनु ने बारह प्रकार के पुत्रों में कानीन को भी

---

१. पाणिगृहीत्यादीनां विशेषे, यस्याः हि यथा कथञ्चित् पाणिगृह्यते। वा० ४/१/५२–२०

२. मनु० ६/१७२

माना है। भाष्यकार पतञ्जलि ने आपत्ति की है कि यदि कन्या है तो पुत्र कैसा और पुत्र हो गया तो कन्या कैसी ? कन्या और पुत्र ये दोनों आपस में विरुद्ध हैं। इसका समाधान यह है कि विवाह सम्बन्ध में बँध जाने के बाद पुरुष के साथ शरीर सम्बन्ध होने पर स्त्री का कन्या कहा जाना बन्द हो जाता है, किन्तु समाज में जो कन्या विवाह से पहले ही पुरुष से शरीर सम्बन्ध स्थापित कर लेती थी उसके लिये भी कन्या शब्द लोक में प्रचलित रहा। जिसे लोग कन्या कहते या मानते रहें वही कन्या है।[१]

पत्नी ४/१/३३

विवाह योग्य अवस्था प्राप्त होने पर कन्या 'वर्या' कहलाती थी। वर्या से तात्पर्य उस कन्या से है जो बेरोक–टोक बरी जा सके। वधूजनी और उसकी या वर की भी सखियां जन्या कहलाती थीं।[२] नव विवाहिता वधू के लिये लोक और वेद दोनों भाषाओं में सुमंगली शब्द चलता था। विवाहित स्त्री के लिये जाया ३/२/५२, पत्नी ४/१/३३ एवं जानि शब्द प्रयुक्त होते थे। युवती स्त्री और वृद्धा स्त्री का पति युवजानि और वृद्धजानि कहलाता था। पतिवत्नी, जिसका पति जीवित हो (जीवत्पति ४/१/३२) इस विशेष पद से यह ध्वनित होता है कि पति के जीवनकाल में पत्नी गृहस्वामिनी होती थी। 'सपत्नी' शब्द बहुविवाह की प्रथा का सूचक है। ऐसी बड़ी बहिन का पति जिसका विवाह छोटी बहिन के बाद हो 'दिधिषू पति' कहलाता था ६/२/१६।

अच्छे शील वाली माता का पुत्र भद्रमातुर ४।१।११५ और रुपवती माता का कल्याणिनेय ४/१/१२६ कहलाता था। पिता का गोत्र न ज्ञात होने पर माता के गोत्र के अनुसर पुत्र का नाम पड़ता था,

---

१. भाष्य ४/१/११६
२. जनीं वहति जन्या, जामातुर्वयस्या सा हि व्हिारादिषु जामातृ समीपं प्रापयति। जनी वधूरुच्यते। –काशिका ४/४/८२

किन्तु इस प्रकार के नाम से कुत्सा सूचित होती थी उदाहरणार्थ– गर्ग गोत्र में उत्पन्न गार्गी का पुत्र 'गार्गिक' हो सकता था, किन्तु वह गौरवास्पद न था।

गोत्र जनपद और वैदिक चरणों के नाम से स्त्रियों के नामकरण की प्रथा का अष्टाध्यायी में उल्लेख मिलता है। इससे स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरवात्मक स्थिति का संकेत मिलता है। एक जनपद में उत्पन्न राजकुमारियां या स्त्रियां विवाह के बाद जब दूसरे जनपद में जाती थी, तब पतिगृह में वे अपने जनपदीय नाम से भी पुकारी जाती थी, इसका उदाहरण अद्यावधि मिलता है।

अष्टाध्यायी में स्त्रियों के प्रसाधन और अलंकरण की सामग्री का भी उल्लेख मिलता है यथा–माथे पर पहनने की ललाटिका ४/३/६५, कानों की कर्णिका ४/३/६५, गले का ग्रैवेयक। केश–संस्कार को 'केशवेश' और विशेष प्रकार के केश विन्यास को 'कबरी' कहा गया है।

अन्नपान

अन्नपान के सम्बन्ध में अष्टाध्यायी में महत्त्वपूर्ण समग्री है भारतीय अन्नपान का इतिहास लिखा जाय तो पाणिनीय सामग्री उपयोगी होगी।

अभिषव ३/१/१२६

आसुति या अभिषव के स्थान में मद्य बनाने के लिये विविध ओषधियों को पहले उठाया जाता था। जब वे पूरी तरह उठ आतीं तब उन्हें 'आसाव्य' कहते थे अर्थात् जो ऐसी स्थिति में आ गई हों कि उनका अभिषव या चुवाना अत्यन्त आवश्यक हो। चुवाने के बाद जो फोक (कल्क) बचता था उसे विनीय (फेंकने योग्य) कहते थे ३/१/११७।

मधुपान से सम्बन्धित भाषा के एक विशेष प्रयोग का पाणिनि ने १/४/६६ में उल्लेख किया है। कणे हत्यपिवति श्रद्धा प्रतिघाते जिसका अर्थ है तलछट तक पी गया फिर भी मन नहीं भरा।

संस्कृत ४/२/१६

संस्कृतं भक्षाः में संस्कृत का अर्थ है उत्कर्ष का आधान। काशिका में उल्लेख आया है सतः उत्कर्षाधानं संस्कारः। इसका लक्ष्य पाक विधि या बनाने की प्रक्रिया की ओर विशेष है, जिससे पदार्थो में विशेष स्वाद की उत्पत्ति हो। संस्कार के बाद फिर उस पदार्थ को तुरन्त उसी दशा में खाया जा सकता है। संस्कृत हि नाम तद् भवति यत्–तत् एवापकृष्याभ्यपह्रियते –भाष्य ४/३/२५ वार्तिक –१। जैसा दार्षदाः सक्तवः अर्थात चक्की में पिसे हुए सत्तू। भोजन के इस प्रकार संस्कृत होने का दूसरा उदाहरण 'शूलोखाद्यत्' सूत्र में है।

संस्कृतं भक्षाः सूत्र पर काशिका में तीन उदाहरण है। (क) भ्राष्ट्रा अपूपाः (ख) कालशा अपूपाः (ग) कौम्भा अपूपाः। इनसे अपूप बनाने की विशेष प्रक्रिया ही अभिप्रेत है। भ्राष्ट्र अपूप पूर्वी जनपदों में आज भी बनाये जाते हैं।

पाणिनि ने दही, मट्ठे और दूध का भी इस प्रकरण में उल्लेख किया है। दही में बनाया हुआ खाद्य पदार्थ दाधिक (दध्नष्ठक् ४/२/१८), मट्ठे में बनाया हुआ औदश्वित या औदश्वितक (उदश्वितोऽन्यतरस्याम् ४/२/१९) और दूध में बनायी हुई दूधिया लपसी क्षैरेयी यवागू (क्षीराड्ढञ् ४/२/२०)। पाणिनि ने भोजन की प्रक्रियाओं का बारीकी से विचार करते हुए संस्कृतम् ४/४/३ संस्कृतं भक्षाः से अलग बनाया है। दध्ना संस्कृतम्, दधनि संस्कृतम्। दोनों अर्थो में एक ही शब्दरुप दाधिकम् ही बनेगा, किन्तु अर्थ में और बनाने की प्रक्रिया में भेद है। जहाँ दही के मिलाने से स्वाद कुछ अच्छा हो जाय, वहां दध्ना संस्कृतम् ठीक है परन्तु जहां दही में ही मुख्य रुप से कोई चीज बनायी जाय वहां दधनि संस्कृतम् ठीक है।

यवागू ४/२/१३६

ओदन की तरह जौ की लपसी भी जनता का प्रिय भोजन था। सूत्रों के उदाहरणों में अनेको बार यवागू का उल्लेख आता है। साल्व जनपद मे यवागू लागों का विशेष प्रिय भोजन था, पाणिनि ने उसे साल्विका यवागू कहा है। साल्व जनपद की पहचान देश के उस भू–भाग से की गई है जो अलवर से वीकानेर तक फैला हुआ है। अद्यापि वहॉ के लोगों में लपसी खाने का रिवाज है। इसे यहां के लोग 'राबड़ी' कहते हैं। वहां पर दो प्रकार की यवागू बनती है। एक पतली जिसे लपसी कहते हैं और जो पेय होती है। धनी लोगों के घरों में यह मीठी बनायी जाती है। दूसरी कुछ गाढ़ी 'राबड़ी' कहलाती है। नमकीन राबड़ी साधारण लोगों का भोजन है।

नीवार ४/३/४८ (नौ वृ धान्ये)

जंगल में स्वंय उपजने वाला घटिया किस्म का धान्य था। लोक मे इसे ही 'पसही' (प्रसातिका) या तिन्नी का चावल कहते हैं।

पाणिनि ने मद्रदेश की देविका नदी का उल्लेख किया है ७/३/१, उसके प्रसंग में इष्टरुप की सिद्धि करते हुए पतञ्जलि ने दाविकाकूल शालि अर्थात देविका के किनारे की रौसली मिट्टी में उत्पन्न होने वाले चावल का उल्लेख किया है।

पयस्य या गव्य ४/३/१६०

दूध से बने हुए खाद्य पदार्थो को गव्य या पयस्य कहा गया है। दूध, दही, मट्ठा इनका सूत्रों में उल्लेख है। सूत्र ७/२/१८ में जिस फाण्ट का उल्लेख है वह भी गव्य पदार्थ ही था। उसी दिन के दूध से तत्काल निकाले हुए मक्खन को फाण्ट कहा जाता है।[1] पहले

---

१. शतपथ ब्राह्मण ३/१/८

दिन के दूध का दही जमाकर, अगले दिन प्रातः काल उसे मथकर जो मक्खन निकाला जाता था, उसके लिये हैयंगवीन (हैंयंगवीनं संज्ञायाम् ५/२/२३) यह नया शब्द प्रयोग में चल पडा था जो कि प्राचीन वैदिक साहित्य में नही था।

संसृष्ट ४/४/२२

संसृष्टे आदि सूत्रों में भोजन में किसी दूसरी वस्तु को संसृष्ट करने अर्थात् अप्रधान और ऐच्छिक से मिलाने का प्रकरण है। जैसे किसी वस्तु में दही डाल दें तो वही वस्तु दाधिक कहलायेगी। मिश्रीकरण प्रक्रिया में दोनों पदार्थ समान महत्त्व रखते हैं परन्तु संसृष्ट में जो पदार्थ मिलाया जाय वह गौण रहता है। दही लगाकर पराठा खाने मे दही गौण और पराठा प्रधान है। महर्षि पाणिनि ने संसृष्ट प्रक्रिया के तीन उदाहरण दिये हैं—चूर्णादिनः, लवणाल्लुक, मुद्गादण्, ४/४/२३, २४, २५। चूर्ण का अर्थ चून है, भुने हुये गेहूं के आटे को पश्चिमी बोली में कसार और बनारसी बोली में चून कहते हैं। चून भरे हुये गूझे के लिये चूर्णिनः अपूपाः शब्द प्रचलित था (चूर्णैः संसृष्टाः)।

भीतर भरे हुये चून या कसार की अपेक्षा अपूप की प्रधानता है। ऐसे ही चूर्णिनो धानाः कसार के साथ पागे हुये धान, नमकीन दाल, नमकीन साग, नमकीन लपसी में नमक गौण और दूसरे पदार्थ मुख्य होते हैं। नमक का मिश्रीकरण नहीं केवल संसर्ग किया जाता है।

चूर्ण ४/४/२३

आटा और घी कढ़ाई में भून कर और शर्करा मिलाकर चूर्ण बनाया जाता था। पश्चिमी बोली में इसे कसार किन्तु पूरब की ओर इसे ही चूर्ण य चूरन कहते थे। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रकार चूर्ण या कसार भरकर जो गुंझियां या गूझें बनाये जाते थे, उन्हें 'चूर्णी अपूप' कहते थे। विवाह में कन्या के साथ ऐसे गूझें देने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है।

व्यञ्जन और उपसिक्त ४/४/२६

मिश्रीकरण द्रव्य की मिलावट खाने वाले की इच्छा पर है। धान में गुड का मिलाना ऐच्छिक होते हुए भी दोनों का महत्त्व समान माना जाता है। ऐसे ही संसर्ग वाले पदार्थों का मिलाना भी ऐच्छिक है, किन्तु संसृष्ट पदार्थों की उसमें प्रधानता नहीं होती है परन्तु व्यंजन या उपसेचन की मिलावट उस–उस भोज्य पदार्थ के लिये आवश्यक समझी जाती है। अन्नेन व्यञ्जनम् २।१।३४ सूत्र पर पतञ्जलि ने दधि को व्यञ्जन या उपसेचक द्रव्य कहा है, जैसे दध्ना उपसिक्त ओदनः दध्योदनः। काशिका में क्षीरौदनः उदाहरण भी है। खीर बनाने के लिये ओदन में दूध का मिलाना या दही का नमकीन भात बनाने के लिये दही का मिलाना आवश्यक है।

ओदन ४/४/६७

ओदन को ही भात भी कहा गया है। यह लोगों का प्रिय भोजन था। जल में उबाल कर बनाये हुये शुद्ध चावल को उदकौदन या उदौदन कहते थे। मांस के साथ बनाया हुआ पुलाव मांसौदन ४/४/६७ कहलाता था। चरक संहिता में घृत, तेल, फल, मांस, तिल के साथ ओदन बनोन का उल्लेख आया है। उसके आधार पर ओदन का वैसा ही नाम पड़ता था। श्रेष्ठ चवलों का पसाया हुआ भात या ओदन इस देश के संभ्रान्त घरानों का बढ़िया भोजन माना जाता था। पतञ्जलि के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि लोग अपने मित्रों की दावत ओदन से करते थे।[१] भाष्य में कई वार विन्ध्यो वर्धितकम् वाक्य आया है। खाने वाले के सामने पत्तल पर लगे हुये भात के ढेर को वर्धितक कहते थे। हंसी में उसकी उंचाई की तुलना विन्ध्याचल से की गई है।

---

१ देवदत्तस्य समाशं शरावैरोदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते, –भाष्य १/१/७२
आश्चर्यमिदं वृत्तमोदनस्य च नाम पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव इति। –भाष्य २/३/६५

अपूप ५/१/४

आटा में घी मिलाकर या घी फेंटकर मन्द–मन्द आंच मे उतारे हुये मालपुए को ऋग्वेद में अपूप कहा गया है।[1] यह अपने देश का सर्वप्राचीन मिष्टान्न था। काशिका में सस्कृतं भक्षाः सूत्र के उदाहरण में भ्राष्ट्र अपूप, कौम्भ अपूप एवं कलश अपूप का उदाहरण दिया है। पाणिनि ने चूर्णी अपूप या कसार भर कर बनाये हुये गुँझिये का उल्लेख किया है। यह विवाह–बारात या तीज त्यौहार पर प्रायः बनते थे। मेवा मिले हुये गेहूं के चूर्ण के अतिरिक्त मूंग और मसूर आदि का चूर्ण या कसार भी बनाया जाता था जैसा कि सूत्र 'चूर्णादीन्यप्राणि षष्ठ्याः ६/२/१३४ में उल्लेख है।

अपूपादिगण में भी अभ्यूष का पाठ है। जो गेहूं की बालों को अग्नि में भूनकर कूटकर, गुड़ मिलाकर हाबुस बनाते हैं। कामसूत्र में अभ्यूषखादिका[2] एक क्रीड़ा का नाम है। पानी में घोलकर बनाये हुये सत्तू को उदकसक्तु या उदसक्तु कहा जाता था। इससे भी अपूप बनाया जाता था।

षष्टिका ५/१/६०

साठ रात या दो महीने में पककर तैयार होने से इस धान का यह नाम पड़ा, षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते। लोक में इसी का नाम साठी है। जैसी लोकोक्ति भी है–'साठी पाके साठ दिना, दैव बरीसे रात दिना''। चरक के अनुसार यह गुणकारी धान माना जाता था[3]।

शालि ५/२/२- शालि का तात्पर्य जड़हन से हैं, जो कि मार्गशीर्ष में होता है। इसके विरुद्ध व्रीहि बरसाती चावल हैं जो सावन–भादों की फसल में होते हैं। शालि के खेत शालेय और व्रीहि के व्रैहेय कहलाते थे।

---

१ य स्तेऽद्य कृष्वद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने। –ऋग १०/४५/६

२. कामसूत्र ४/१/१

३. सूत्रस्थान १७/१३

यवक ५/२/३

पाणिनि और चरक दोनों में इस चावल का उल्लेख है। सूत्र ५/४/३ के अन्तर्गत गण पाठ में भी यवक आया है (यव व्रीहिषु ५/४/३)। इसी गण में जीर्णक शालि का भी नाम है (जीर्ण शालिषु), चरक ने इसे ही जूर्ण कहा है।

कुल्माष ५/२/८३

पाणिनि ने उस तिथि का नाम पौर्णमासी कहा है जिस दिन वर्ष में एक बार कुल्माष नामक अन्न नियमतः खाने की प्रथा थी (तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्, कुल्माषादञ् ५/२/८२, ८३)। कुल्माष क्या था इस पर प्राचीन साहित्य से कुछ प्रकाश पड़ता है। निरुक्त मे कुल्माष को निकृष्ट भोजन कहा गया है (कुल्माषान् चिदादर इत्यवकुत्सिते, १/४)।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में कथा है कि किसी इभ्य ग्राम (धनी लोगों की बस्ती) में टिड्डी से कृषि नष्ट हो जाने पर वहां के लोग कुल्माष खकर गुजारा कर रहे थे।[2] चरक के अनुार कुल्माष एक स्विन्न भक्ष था, जिसे गरिष्ठ समझा जाता था।[3] ऐसा ज्ञात होता है कि गेहूं मक्का या बाजरा आदि मोटे अन्न को इतने पानी में उबालकर कि पानी उसी में भिद जाय और उसमें तेल या घी की चिकनाई और गुड़ मिलाकर पिण्डा लड्डू बनाकर कुल्माष बनाया जाता था, इस प्रकार का अन्न वर्ष में जिस पूर्णिमा को नियम से खाया जाता होगा,

---

१. अमरकोश के अनुसार कुल्माष का अर्थ यवक और अन्य कोशें में काञ्जीक दिया है।

२. छान्दोग्य उपनिषद् १/१०/२

३. चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने सूत्र स्थान २७/२६० पर-लिखा है 'यव पिष्ट, मुष्णोदक सिक्तमीषत् स्विन्नमपूपी कृतं कुल्माषमाहुः। काशिका वृत्ति ने भी कुल्माष का पाठ गुडादिगण में माना है ४/४/१०३। कौलमाषिक मुद्ग उदाहरण दिया है अर्थात् कुल्माष राँधने लायक मूँग।

उस तिथि का नाम कौल्माषी पौर्णमासी लोक मे प्रसिद्ध हुआ। चैत्र पूर्णिमा की तिथि की यह संज्ञा ज्ञात होती है, कुछ क्षेत्रों में आज भी इस तिथि को घुघुरी खाने की प्रथा है।

कषाय ६/२/१०

पाणिनि ने कई प्रकार के कषायों का भी उल्लेख किया है। काशिका में सर्पिमण्डकषाय, उमापुष्पकषाय, दौवारिककषाय तीन नाम दिये हैं। पहला घी और चावल के माण्ड को कई गुना जल में औटाकर बनाया जाता था, दूसरा अलसी के फूलों को। तीसरा ऐसा कोई पान था जो दौवारिक या प्रतिहारों के लिये तैयार किया जाता था, यह हल्के उत्तेजक पेय के रुप में नींद आने से रोकता था।

महाव्रीहि ६/२/३८

पाणिनि ने चावल की इस श्रेष्ठ जाति का उल्लेख इस सूत्र में किया है। चरक ने भी अच्छे चावलो की सूची में इसे गिनाया है।[1] सुश्रुत ने इसकी जगह महाशालि का उल्लेख किया है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि महाशालि भी महाव्रीहि से मिलती जुलती कोई धान की जाति हो। चीनी यात्री ह्वेनसांग के जीवनी लेखक ह्वी–ली ने लिखा है कि जब ह्वेनसांग नालन्दा विश्वविद्यालय में ठहरा था तो उसे महाशालि चावल खाने के लिये दिया गया। स्वयं ह्वेनसांग ने भी लिखा है कि मगध में एक अद्‌भुत जाति का चावल होता है जिसके दाने बड़े, सुगन्धित और खाने में अति स्वादिष्ट होते हैं। यह चमकता है और इसे धनिकों का चावल कहते हैं।[2] सम्भवतः यही महाव्रीहि था।

मिश्रीकरण ६/२/१२८

भोज्यं भक्ष्ये सूत्र को छोड़कर और सब सूत्रों में भक्ष्य का अर्थ ठोस खाद्य पदार्थ है। 'पललसूपशाकं मिश्रे' मे पलल (मांस) सूप (दाल)

१ चरक सहिता, निदान स्थान ४/६
२. सि.यु.ची. बील २/८२

और शाक इन्हें भक्ष्य माना गया है। इन ठोस पदार्थो मे गुड़ घी आदि द्रव्य यथारुचि मिलाते हैं पर दोनों द्रव्य समान महत्त्व रखते है और उनका मिलाना ऐच्छिक होता है। इसे मिश्रीकरण कहते थे। गुड और धान दोनों को एक साथ पगाकर बनायी हुयी गुड़धानी नामक भोजन सामग्री में गुड़ और धान दोनों का महत्त्व होता है। मिश्रं चानुपसर्गम–सन्धौ ६/२/१५४ पर काशिका में गुड़, घी और तिल को मिश्र या मिश्रण योग्य माना है।

भोज्य ७/३/६६

इस सूत्र में भोज्य को भक्ष्य अर्थ में सिद्ध किया गया है। कात्यायन ने इस पर शंका की कि भोज्य में ठोस और तरल दोनों प्रकार के खाद्य पदार्थ आते हैं, लेकिन भक्ष्य दांत से चबाये जाने वाले भोजन के लिये ही है। भोज्य का अर्थ भक्ष्य की अपेक्षा विस्तृत है। अतएव भोज्यं भक्ष्ये सूत्र ठीक नहीं बना। भक्ष्य का अर्थ भोज्य की अपेक्षा कम है। अतएव वार्तिककार कात्यायन ने सुझाव दिया कि ''भोज्यम् अभ्यवहार्ये' ऐसा सूत्र होना चाहिए। भाष्यकार पतञ्जलि कात्यायन से सहमत नहीं है, उन्होने पाणिनि सूत्र को संगत मानकर कहा है कि अब् भक्ष और वायुभक्ष इन पुराने उदाहरणों से जाना जाता है कि जो पदार्थ दॉत से नहीं चबाये जोते, उनके लिये भी भक्षण क्रिया भाषा में प्रयुक्त थी। इसलिये भोज्य भक्ष्य पर्याय है और सूत्र में किसी परिवर्तन की जरुरत नहीं है। बाद के टीकाकारों ने भी इसी अर्थ को माना है। काशिका के अनुसार खरविशद (ठोस) और द्रव दोनों भक्ष्य है। सव्यं सूत्रकार ने अष्टाध्यायी में भक्ष्य शब्द का प्रयोग दो अर्थो में किया है, एक तो दाँत से कूँचकर खाये जाने वाले ठोस भोजन के लिये, जैसे–भक्ष्येण मिश्रीकरणम् २/१/३५ और संस्कृतं भक्षाः ४/२/१६ सूत्रों में। 'गुडेन संसृष्टाः गुड–संसृष्टाः, गुडसंसृष्टाः धानाः गुडधानाः' इस उदाहारण के गुड शब्द को भाष्य में मिश्रीकरण द्रव्य और धान को भक्ष्य माना है। काशिका के अनुसार कड़े भोजन को ही भक्ष्य कहते

हैं (खरविशदमभ्यवहार्य भक्ष्यमित्युच्यते)। इन सूत्रों में भक्ष्य का अर्थ सीमित है, पर 'भोज्यं भक्ष्ये' वह ठोस और द्रव दोनों का वाची है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाणिनि के समान ही भक्ष्य शब्द के दोनो अर्थ हैं।[1]

मैरेय ६/२/७०

इस सूत्र का अर्थ है कि मैरेय शब्द के पूर्व पद पर उदात्त स्वर होता है, यदि वह पूर्व पद मैरेय में पड़ने वाले किसी अंग (द्रव्य) का वाची हो। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मैरेय का अस्तित्त्व था तभी यह सूत्र बना और साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि यह शराब जिन–जिन द्रव्यों से बनायी जाती थी, उसके नुस्खे से भी सूत्रकार पूर्ण परिचित थे। कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र से मैरेय पर अच्छा प्रकाश पडता है। अर्थशास्त्र में मेदक, प्रसन्ना आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु छः प्रकार की सुरा का उल्लेख आया है। अर्थ० २/२५। अर्थशास्त्र में मैरेय बनाने का तरीका इस प्रकार दिया है–''मेषश्रृंगीत्वकक्वाथाभिषुतो गुडप्रतीवापः पिप्पलीमरिच – संभारस्त्रिफला युक्तो वा - मैरेयः।'' २/२५। अर्थात् मेषश्रृंगी की छाल का काढ़ा बनाकर उसमें गुड़ डालकर उसे उठाओं, फिर पीपल, काली मिर्च या त्रिफला का चूर्ण मिलाओ– यही मैरेय है। इस योग में काकड़ासींगी, मिर्च और त्रिफला–यह ओषधिवर्ग एक ओर और गुड़ दूसरी ओर है। काशिका में सूत्र के दो उदाहरण हैं–गुड़ मैरेयः मधु मैरेयः। दोनों ही मूर्धाभिषिक्त उदाहरण जान पड़ते है जो सूत्र के जन्मकाल से उसके साथ चले आते थे। उदाहरणों के दो पूर्व पद गुड़ और मधु मधुर वर्ग के हैं। इससे सूचित होता है कि सूत्रगत 'अंगानि' पद से तात्पर्य काकड़ा सींगी आदि ओषधि वर्ग से नहीं, बल्कि मैरेय में मिठास के लिये डाले जाने वाले गुड़, शहद आदि

---

१. सूदो भक्ष्यकारो वा भक्ष्यभोजन याचते–अर्थ० ५/१ में भक्ष्य और भोजन में भेद किया गया है। किन्तु 'भक्ष्येषु स्मरति'– अर्थ० ५/५ राजा भोजन के समय अपने मन्त्री का स्मरण करता है, इस वाक्य मे भक्ष्य का अर्थ ठोस और द्रव भोजन मात्र है।

द्रव्यों से था। यह बात भी समझ में आती है कि काकडासींगी छाल, मिर्च, पीपल और त्रिफला ये सब तरह के मैरेय में एक जैसे रहते थे, सिर्फ मिठास वाला द्रव्य घटिया–बढिया किस्म की मैरेय के हिसाब से बदलता रहता था। स्पष्ट है कि मैरेय के अलग–अलग भेदों के नाम मिर्च–पीपल– त्रिफला आदि से नहीं, बल्कि गुड़ शहद आदि से पड़ना ही स्वाभाविक था। मधुशाला में बैठा हुआ व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार मैरेय की माँग करते हुये मधुर वर्ग वाची पूर्व पद पर ही बल देता था जैसे– इक्षुरस मैरेय, फाणित मैरेय, गुड़ मैरेय, शर्करा मैरेय, मधु मैरेय लाओ। ये पांच प्रकार के मैरेय उत्तरोत्तर बढ़िया प्रकार के थे। इक्षुरस, राब, गुड़, शक्कर, शहद मिलाने से मैरेय नामक आसव में विभिन्न प्रकार का स्वाद और गुण उत्पन्न होता था। उच्चारण की इस स्वाभाविक स्थिति के कारण ही गुड मैरेय , मधु मैरेय आदि शब्दों के पूर्व पद में उदात्त स्वर बोला जाता था।

काकडासींगी, पीपल, मिर्च और गुड़ अर्थशास्त्र में दिये हुये इस नुस्खे से काशिका का 'गुड़–मैरेय' उदाहरण तो समझ में आ जाता है किन्तु फिर भी मधु मैरेय के विषय में जिज्ञासा रह जाती है। अर्थशास्त्र में ही कौटिल्य ने एक दूसरी विधि बतायी है–गन्ने का रस, गुड़, शहद, राब, जामुन का रस, कटहल का रस इनमें से कोई एक लेकर काकड़ासींगी और पीपल के काढ़े में यदि मिला दिया जाय और फिर उसे एक माह, छः माह अथवा एक वर्ष रखा रहने दिया जाय और बाद में इच्छानुसार उसमें ककड़ी, खीरा, गन्ना, आम, त्रिफला मिलाया जाय तो एक प्रकार का शुक्त तैयार होता है।[१] यहां यद्यपि कहा नहीं गया है, किन्तु यह भी मैरेय बनाने की ही विधि है। इसमें छः प्रकार के मधुर द्रव्य एक तरफ और ओषधियां दूसरी तरफ दी हैं। मधुर वर्ग मे शहद की भी गणना की गई है। इससे काशिका का मधुं मैरेय उदाहरण स्पष्ट हो जाता है।

---

१ अर्थशास्त्र २/१५

वंश २/१/१६

वंश दो प्रकार का होता था—विद्या और योनि सम्बन्ध से—विद्यायोनि सम्बन्धेभ्यो वुञ् ४/३/७७, ऋतो विद्या योनि सम्बन्धेभ्य· ६/३/२३। विद्या वंश गुरु—शिष्य परम्परा मे चलता था, यह भी योनि सम्बन्ध के समान ही वास्तविक माना जाता था। योनि सम्बन्ध मातृवंश और पितृ वंश से दो प्रकार का होता था।[1]

शिष्य लोग अपने—अपने चरण में गुरु—शिष्य परम्परा अथवा विद्यावंश का पारायण वेदाध्ययन की समाप्ति के समय किया करते थे। उपनिषदों में इस प्रकार के कई विद्यावंश सुरक्षित हैं। योनि सम्बन्ध से प्रवृत्त होने वाले पितृवंश के अतीत के पीढियों की संख्या यत्नपूर्वक रखी जाती थी जैसा कि 'संख्या वंश्येन' २/१/१६ सूत्र से ज्ञात है। ऐसी प्रथा थी कि वंश के मूल संस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढ़ियों की संख्या जोड़कर उस वंश के दीर्घकालीन अस्तित्त्व का संकेत दिया जाता था। उदाहरणार्थ— २/४/८४ सूत्र पर पतञ्जलि ने एकविंशति भारद्वाजम् एवं त्रिपञ्चाशद् गौतमम् का उल्लेख किया। प्रथम का संकेत भारद्वाज के कुल की २१ पीढ़ियों से है जबकि द्वितीय का संकेत है कि मूल पुरुष गौतम से उदाहरण की रचना के समय तक ५३ पीढ़ियां बीत चुकी थीं। यदि एक पीढी का आयुष्य भोग २५ वर्ष माना जाय तो लगभग १३०० वर्ष पूर्व गौतम वंश प्रवर्तित हुआ होगा। इस काल गणना का कुछ समर्थन वृहदारण्यक उपनिषद् की वंश सूचियों से भी होता है। इसमें गुरुशिष्य परम्परा की ५७ पीढ़ियों की गिनती है। ब्राह्मण युग के अन्त में जब इस प्रकार की सूचियों का संकलन किया गया उस समय के लगभग ही 'त्रिपञ्चाशद् गौतमम्; जैसा शब्द प्रयोग अस्तित्त्व में आया होगा। गौतम वंश के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उपनिषत् काल में अरुण, उसके पुत्र उद्दालक आरुणि उसके पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय जैसे प्रसिद्ध आचार्यो के रुप में इस वश की पर्याप्त ख्याति थी।

---

१. अपर आह—द्वावेव वंशौ मातृवंशः पितृवंशश्च ४/१/१४७ वा—'भाष्य।

संयुक्त ४/१/१३७

संयुक्त ससुराल के सम्बन्धियो को कहते थे।[1] पाणिनि ने श्वसुर–श्वश्रू (१/२/७१) श्वसुर्य=श्वसुर का पुत्र को संयुक्त कहा है।

सगोत्र ४/१/१६२

'गोत्र' अष्टाध्यायी का महत्त्व पूर्ण शब्द है। महर्षि पाणिनि के अनुसार अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम् यह गोत्र की परिभाषा थी। इसका अर्थ पौत्र प्रभृति यदपत्यं तदगोत्रसंज्ञं भवति अर्थात् एक पुरखा के पोते, पड़पोते आदि जितनी सन्तान होगी वह गोत्र कही जायेगी। गोत्र प्रवर्तक मूल पुरुष को वृद्ध, स्थविर या वंश्य भी कहते थे, उदाहरणार्थ–यदि मूल पुरुष का नाम गर्ग होता तो उसका पुत्र गार्गि, पौत्र गार्ग्य और प्रपौत्र गार्ग्यायण कहलाता था।

किसी परिवार में कौन गार्ग्य है और कौन गार्ग्यायण, समाज में इसका महत्त्व था। गोत्र नाम के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत नाम भी होता था। इसीलिये महाभारत, जातक आदि प्राचीन ग्रन्थों में व्यक्ति का परिचय पूछते समय नाम और गोत्र दोनों के विषय में प्रश्न किया जाता था। वास्तव में बात यह थी कि गोत्रों की परम्परा प्राचीन ऋषियों से चली आती थी। यह माना जाता है कि ब्रह्मा के चार पुत्र–भृगु, अंगिरा, मरीचि और अत्रि हुये, ये चारों गोत्रकर्ता थे। पुनः भृगु कुल में यमदग्नि, अंगिरा के गौतम और भरद्वाज, मरीचि के कश्यप, वशिष्ठ और अगस्त्य एवं अत्रि के विश्वामित्र हुये। इस प्रकार यमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, कश्यप, वशिष्ठ अगस्त्य और विश्वामित्र ये सात ऋषि आगे चलकर गोत्रकर्ता बन गये। अत्रि का विश्वामित्र के अलावा भी वंश चला। इन्हीं मूल आठ ऋषियों को गोत्रकृत् माना गया। फिर इनमें से प्रत्येक के वंश में भी ऐंसे प्रसिद्ध व्यक्ति हुये जिनकी

---

१ सयुक्ता · स्त्री सम्बन्धिनः श्यालादय· –काशिका ६/२/१३३

विशेष कीर्ति के कारण उनके नाम से भी वश का नाम प्रसिद्ध हो गया। उनकी गणना अपने मूल गोत्र के अन्तर्गत पर स्वतन्त्र गोत्रकर्ता के रुप में की जाने लगी। आगे चलकर और भी बहुत से लोग गोत्रकर्ता बन गये तो उनकी गणना गोत्रगण के नाम से कर ली गई। इस प्रकार मूल आठ गोत्र और प्रत्येक के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले गोत्र गणों की सूचियां प्राचीन समय में सङ्ग्रहीत की गई। इस प्रकार की सबसे वृहत् सूची वौधायन श्रौतसूत्र के अन्त में पायी जाती, जिसका नाम महाप्रवरकाण्ड है। इस सूची में लगभग एक सहस्र नाम है। आपस्तम्ब, कात्यायन एवं आश्वलायन के श्रौत सूत्रों में भी गोत्रों की सूचियां हैं परन्तु इसमें बौधायन की अपेक्षा नामों की संख्या कम है।

गोत्र के प्रश्न पर तथ्यात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि पुराने ऋषियों ने जो गोत्र–नामों का संग्रह किया, वह समाज की वस्तविक अवस्था का सूचक था। उन्हें जो प्रसिद्ध गोत्रों के नाम मिले, उनका सङ्ग्रह कर लिया और विदित होता है कि ये नाम भी ब्राह्मण गोत्र ही थे। इसके अतिरिक्त समाज में तो प्रत्येक परिवार का अपने पूर्व पुरुष की अपेक्षा स्वतन्त्र वंश नाम हो सकता है एवं क्षत्रिय, वैश्य एवं इतर जातियों में भी सैकड़ों गोत्रों के नाम प्रचलित रहे होंगे, जिस प्रकार आज भी हैं। इस तथ्य को पुराने लोगों ने भी पहचाना था इसीलिये कहा गया–गोत्रणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च, अर्थात् समाज में जितने कुल हैं उन सबके नामों का सङ्ग्रह किया जाय तो परिवारो के नामों की संख्या सहस्रों, लाखों क्या अरबों तक हो सकती है। पर व्याकरण में अथवा धर्मशास्त्र में उन सबका सङ्ग्रह न तो सम्भव ही है और न अभिमत ही। कहने के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपना–अपना वंश चलाता है, पर वास्तविक वंश कर्ता या गोत्रकृत वे ही होते हैं जिनके नाम से कुल प्रसिद्धि पाता है, इसी स्वाभाविक स्थिति को व्याकरण शास्त्र भी मानता है। ऋषियों के नाम से जो पुराने गोत्र चले आते थे, पाणिनि ने शब्द रुप और प्रत्ययों की दृष्टि से उसका वर्गीकरण करके उन्हें लगभग २० गणों में सूचीबद्ध

कर दिया पर ऋषि गोत्रों के अतिरिक्त और भी अनेकों परिवारो के नाम समाज में थे। वे भी भाषा का अंग होने के कारण बोल–चाल में काम आते थे। उन अल्ल, बौंक या ख्यातों के लिये पाणिनि ने एक नया शब्द 'गोत्रावयव' ४/१/७६ जिसे काशिका में कुलाख्या कहा गया है।[1] ऐसे छोटे कुलों की कोई गणना पाणिनि ने नहीं की है, केवल एक सूत्र 'क्रौड्यादिभ्यश्च' ४/१/८० में उन नामों की थोड़ी सी बानगी दे दी है।

कुल ४/१/१३६, ४/२/६६

परिवार की संज्ञा कुल थी। कुल की प्रतिष्ठा पर प्राचीन भारतीय बहुत ध्यान देते थे। प्रतिष्ठित और यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। कुल में उत्पन्न व्यक्ति कुलीन ४/१/१३६ और महाकुल में उत्पन्न महाकुलीन, माहाकुलीन अथवा माहाकुल ४/१/१४१ कहलाता था। काशिका के अनुसार श्रोत्रिय कुल में उत्पन्न व्यक्ति की संज्ञा श्रोत्रियकुलीन थी। मनु ने बताया है कि किस प्रकार विवाह, वेदाभ्यास, यज्ञ इन तीन उपायों से कुलों की प्रतिष्ठा बढ़कर महाकुल जैसी हो जाती थी।[2] यों तो समाज में चारों ओर कुल ही कुल थे किन्तु उत्कृष्ट कुलों की गणना में स्थान पा लेना कुल संख्या प्राप्त करने का आदर्श था। महाभारत में भी इस प्रकार के महाकुलों की प्रशंसा की गई है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महाकुल में उत्पन्न व्यक्ति के लिये भाषा में पाणिनि निर्दिष्ट कई शब्दों की आकांक्षा थी।[3]

---

१. **गोत्रावयवा गोत्रभिमता कुलाख्याः पुणिकमुणिक मुखर प्रभृतयः** –काशिका ४/१/७६

२. **मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।**
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः।। मनु० ३/६६

३. **महाकुलानां स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थवृद्धाश्च बहुश्रुताश्च।**
- **पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि।।**
तपो दमो ब्रह्म वित्त्वं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सम्यग् वृत्तस्तानि महाकुलानि।। –महाभारत, उद्योग पर्व ३६/२२–२३

दूसरी ओर जो परिवार वेदाध्यायन में प्रमाद करते अथवा किसी भी रुप में सदाचार का परित्याग करते वे अकुल या हीनकुल माने जाते थे। ऐसे कुलों में उत्पन्न व्यक्ति के लिये पाणिनि ने दुष्कुलीन या दौष्कुलेय शब्दों के प्रयोग का उल्लेख किया है ४/१/१४२।

सपिण्ड ४/१/१६५

यह सूत्र युग का विशिष्ट शब्द था जो संहिता ब्राह्मण, आरण्यकों में नहीं मिलता। धर्मशास्त्रों के अनुसार पिता की सातवीं पीढी और माता की पांचवी पीढ़ी तक के सम्बन्धी सपिण्ड कहलाते हैं।[1] पाणिनि ने इसके लिये वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ४/१/१६५ सूत्र का उल्लेख किया है।

अतिथि ४/४/१०४, ५/४/२६

अभ्यागत के लिये अतिथि, उसकी सेवा शुश्रूषा को आतिथ्य और आवभगत करने वाले गृहपति को आतिथेय कहा जाता है। अतिथि के आने पर उसकी परिचर्या विधि गृह्यसूत्रों में विस्तार से कही गई थी। पाद्य और अर्घ्य का पाणिनि ने भी उल्लेख किया है ५/४/२५। अतिथि के लिये वैदिक भाषा के 'गोघ्न' शब्द का भी प्रयोग सूत्रों में हुआ है।

मित्र ५/१/१२६, ५/४/१५०

परिवार के अतिरिक्त मित्र और सुहृद्वर्ग में भी मानव अपने मन की प्रसन्नता का अनुभव करता है। जातकों में माता–पिता, मित्र–सुहृत्, ज्ञाति वर्ग का प्रायः साथ उल्लेख आता है।[2] पाणिनि ने सखि, मित्र, सुहृत् और उनके सौहार्द भाव के लिये संख्य और संगत का उल्लेख किया है। आयु पर्यन्त निभने वाली गाढ़ी मैत्री 'अजर्य संगत' कहलाती थी।

---

१. मनु० ५/६०
२. जातक ५ पृष्ठ १३२

साप्तपदीनं सख्यं ५/२/२२ का साप्तपदीन शब्द प्राचीन काल से चला आता था। अथर्ववेद में अथर्वा वरुण को अपना सप्तपदसखा कहता है और वरुण भी उसके लिये यही भाव प्रकट करता है। महाभारत में भी सप्तपद सख्य का उल्लेख है।[१] गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार के अन्तर्गत सप्तपदी का विधान है।उसी से साप्तपदीन या साप्तपद सख्य का आदर्श स्थिर हुआ। ऋग्वेद में सप्तपदी के लिये अग्नि द्वारा इष् और ऊर्ज के दोहन का उल्लेख है।[२] सप्तपदीन मित्रता राम–सुग्रीव मैत्री की भॉति अग्निसाक्षिक हुआ करती थी।[३]

सनाभि ६/३/८५

समान नाभि के स्थान में सनाभि आदेश होता है। नाभि का अर्थ यहां गर्भनाल से है। ऋग्वेद में ऋषि परुच्छेप का कथन है कि हमारी नाभियां मनु, अत्रि और कण्व आदि पूर्वजों के साथ मिली हुई हैं।[४] सनाभि के अन्तर्गत पहली और पिछली सभी पीढ़ियों के रक्त सम्बन्धी आ जाते हैं। पर मनुस्मृति ५/१८४ पर कुल्लूक ने सनाभ्य का अर्थ सपिण्ड किया है।

पारिवारिक सम्बन्ध

सुविदित होते हुये भी पारिवारिक शब्दों की सूची (जो शब्द सूत्रों में आये है) यहां दी जा रही है–

स्वसा १/२/६८ माता–पिता १/२/७०, मातुलानी ४/१/४६, पैतृष्वसेय ४/१/१३२, मातृष्वसेय ४/१/१३४, स्वस्रीय ४/१/१४३, भ्रातृव्य ४/१/१४४, ज्यायान् भाता ४/१/१६४, पितृव्य, पितामह, मातामह, मातुल ४/२/३६, सोदर्य भ्राता ४/४/१०६, मातृष्वसा, पितृष्वसा ८/३/८४।

---

१ महाभारत, वनपर्व २६०/३५, २६७/२३

२ अधुक्षत् पिप्पुषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरिः। सूर्यस्य सप्तरश्मिभिः मैत्री। –ऋग्वेद ८/७२/१६

३. रामायण, किष्किन्धा. ८/४

४. ऋग्वेद १/१३६/६

माता–पिता दोनों के लिये एकशेष वृत्ति द्वारा माता का लोप करके 'पितरौ' शब्द का प्रयोग होता था। पतञ्जलि ने अभ्यर्हितम् २/२/३४ वा० ४ वार्तिक का दृष्टान्त देते हुये माता पितरौ में माता को पिता से अधिक पूज्य माना है जो मनु के अनुकूल है।[1] पाणिनि का भी सम्भवतः यही मन्तव्य था जैसा कि उन्होंने सूत्र ४/२/३६ में मातामह शब्द को पितामह शब्द से पहले ही रखकर व्यक्त किया है। पितरौ, भ्रातारौ, पुत्रौ, श्वसुरौ आदि एकशेष शब्दों में पुरुषवाची शब्द ही शेष रहता है जो पितृसत्तात्मक समाज के कारण स्वाभाविक ही है।

पुमान् स्त्रिया १/२/६७ सूत्र से भी यही संकेत मिलता है। पिता और माता आदि में कौन प्रधान और कौन उपसर्जन या गौण है, इसका विचार आचार्य ने जान–बूझकर अपने शास्त्र में नहीं किया और कहा है कि इस विषय मे लोक को ही प्रमाण मानना उचित है।

पुत्र–पौत्र, नाती–पनाती आदि से फलते–फूलते परिवार के लिये लोक में पुत्रपौत्रीण यह सुन्दर प्रयोग प्रचलन में था पुत्रपौत्रमनुभवति ५/२/१०। बहुप्रज शब्द ५/४/१२३ भी ऐसा ही था।

वस्त्र एवं अलङ्कार

वैदिक भाषा में वस्त्र और वसन शब्द प्रचलित थे। पाणिनि में चार नये शब्द और आ गये थे–चीवर ३/१/२०, आच्छादन ३/३/५४, ५/४/६, चेल ३/४/३३ एवं चीर ६/२/१२७। चीवर का प्रयोग ब्राह्मण एवं आरण्यक साहित्य में कहीं नहीं है। चान्द्रवृत्ति एवं काशिका में चीवर का उदाहरण 'संचीवरयते भिक्षुः' जो इस शब्द के बौद्ध पृष्ठभूमि का संकेत करता है। गृहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रों के लिये चीवर नही चलता था। आच्छादन भी एक नया शब्द था जो ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता लेकिन धर्मसूत्रों में उसका प्रयोग प्राप्त होता है।[2] अष्टाध्यायी में प्रावार एवं वृहतिका जैसे वस्त्रों को आच्छादन कहा गया है।

---

१. सहस्रंतु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते –मनु० २/१४५

२. तदशिष्यं संज्ञा प्रमाणत्वात् १/२/५३
कालोपसर्जने च तुल्यम् १/२/५७

वस्त्रों के विविध प्रकार

रेशमी वस्त्रों के कौशेय अलसी (उमा) के तन्तुओं से बनाये हुये वस्त्रों को औम–औमक और ऊनी वस्त्रों को और्ण या और्णक कहते थे। 'मयड्वैतयोर्भाषयामभक्ष्याच्छादनयोः[१]' ४/३/१४३ सूत्र के प्रत्युदाहरण में कार्पास आच्छादन या सूती वस्त्र का उल्लेख है। सूत्र में कार्पासी शब्द नहीं है पर बिल्वादिगण में उसका पाठ अवश्य था अन्यथा ४/३/१४३ सूत्र में आच्छादन पद व्यर्थ हो जता। तूल शब्द का ३/१/२५ सूत्र में उल्लेख है। इषीकातूल का अर्थ सींक में लिपटी हुई रुई हो सकता है।

प्रावार ३/३/५४

इस सूत्र द्वारा पाणिनि ने प्रावार शब्द का विशेष रुप से विधान किया है। यह एक प्रकार का कम्बल ही था। कौटिल्य के अनुसार जंगली जानवरों के रोयें से प्रावारक नामक कम्बल बनता था। महाभारत में भी प्रावार का उल्लेख आता है। ऐसा ज्ञात होता है कि पण्य कम्बल की अपेक्षा यह महीन और बढ़िया किस्म का कम्बल था जिसे तूस या दुशाला कहना चाहिये।

कम्बल ५/१/३

तत्कालीन समाज में पण्यकम्बल नाम से एक विशेष माप का बाजार में चालू कम्बल बनता था, उसमें जितना ऊन लगता था उसके लिये कम्बल्य शब्द था। पाणिनि ने कम्बल्य को तोल विशेष का वाचक संज्ञा शब्द कहा है। काशिका में लिखा है कि १०० पल अर्थात ५ सेर ऊन की संज्ञा कम्बल्य थी (कम्बल्यम् उर्णा पलशतम्, पल=४ तोले, १०० पल=४०० तोले=५ सेर) ४/१/१२ में भी कम्बल्य शब्द आया है जिसके उदाहरण में काशिका ने 'द्विकम्बल्या, त्रिकम्बल्या' प्रयोग दिया

---

१. वशिष्ठ १७६२,१८ ३३
राजपत्न्यो ग्रासाच्छादने लभेरन्, अर्थ० १/११

है। दो कम्बल्य या १० सेर ऊन और त्रिकम्बल्या या १५ सेर ऊन से मोल ली गई–यह अर्थ भेंड़ के लिये ही चरितार्थ होता होगा।

वृहतिका ५/४/६

इस सूत्र के अनुसार विशेष प्रकार के वस्त्र के अर्थ में वृहतिका सिद्ध होता है। अमरकोश मे वृहतिका को प्रावार लिखा है। पतंजलि के एक वाक्य से सूचित होता है कि वृहतिका सामान्य रुप से प्रयुक्त होने वाला वस्त्र था।[1]

४/२/१०० रंकोरमनुष्येऽण् च में पठित रंकु शब्द से रांकव तथा रांकवायण् इन दो शब्दों की सिद्धि की गई है। रंकु किसी जनपद का नाम था। काशिका से ज्ञात होता है कि वहां के बैल और कम्बल प्रसिद्ध थे, जिन्हें रांकव कम्बल कहते थे। चीन, हूण, शक आदि देशों के निवासी मध्य एशिया से युधिष्ठिर के लिये जो उपहार सामग्री लाये थे उसमें और्ण, रेशमी (कीटज) पाट या चीनी घास के बने हुये और रांकव इन चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है।[2] मध्य एशिया की लम्बे बालों वाली भेंड़ें रंकु कहलाती थी उन्हीं के विशेष ऊन से बने हुये कम्बल रांकव होने चाहिये ।

नागरक जीवन

नगर का प्रवीण व्यक्ति या छैल नागरक (नगरात्कुत्स्न प्रावीण्ययोः ४/२/१२८) कहलाता था। सौन्दर्य के लिये अलंकरण और सुभगंकरण और सजावट के लिये आढ्यंकरण ३/२/५६ का उल्लेख है। शरीर के विभिन्न अंगों को सजाकर उनका संस्कार किया जाता था–स्वांगेभ्यः प्रसिते ५/२/६६, यथा–बालों को संवारने काढ़ने वाला छैल व्यक्ति केशक कहलाता था। केशवेश ४/१/४२, अलंकार ४/३/६५,

१. शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च बृहतिका शुक्लं च वस्त्रं तदिदं शुक्लं तानीमानि शुक्लानि–भाष्य १/२/६६
२. महाभारत, सभापर्व ४७/२२, २३

आच्छादन ५/४/६ उसी क्षेत्र के सूचक शब्द हैं। वामोरु, संहितोरु, शफोरु ४/१/७० शब्द स्त्री सौन्दर्य के सूचक हैं। सत् महत्परम, उत्तम, उत्कृष्ट २/१/६१, वृन्दारक, नाग, कंजर, पूज्यमान २/१/६२ आदि शब्द नागरिकों की सामाजिक प्रतिष्ठा का संकेत करते हैं। पूरुष सिंह, पुरुष व्याघ्र आदि नये शब्द लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होने लगे थे। २/१/५६

स्त्रियां शालभञ्जिका आदि उद्यानक्रीडाओं से एवं पुरुष प्रहरणक्रीड़ाओं से मनोविनोद करते थे। तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायांणः ४/२/५७।

अलंकार

ग्रैवेयक ४/२/६६, अंगुलीय ४/३/६२, कर्णिका ४/३/६५, ललाटिका ४/३/६५ इन चार गहनों का सूत्रों में उल्लेख है। मौर्य–शुंग काल की भारतीय कला में ये अलंकार मिलते हैं।

भूषण, अलंकार या सुभगंकरण से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी वर्णन आया है यथा दर्शन या शीशा, अञ्जन, माला, गन्ध, दण्ड, उपानह आदि। यथामुखीन और सम्मुखीन दो प्रकार के शीशे होते थे। पहला चपटा और दूसरा उन्नतोदर या बीच में उठा हुआ जिसमें सामने से ही ठीक देखा जा सके। अञ्जन शब्द का सूत्र में उल्लेख नहीं है, पर त्रिककुत् पर्वत ५/४/१४७ का है जहां से वैदिक काल से ही प्रसिद्ध सुरमा आने लगा था, इसे त्रैककुद् अञ्जन कहते थे।[1] महाभारत में भी उल्लेख आया है कि मद्रदेश की गोरी स्त्रियां त्रैककुद् अञ्जन से अपनी आंखो की शोभा बढ़ाती थी।[2] सौवीर देश में यही सौवीराञ्जन कहा जाता था।

---

१ अथर्व० ८/६/६

२. मनः शिलोज्जवलापांगाः गौर्यस्त्रिककुदाञ्जनाः, महाभारत कर्ण पर्व ३०/२२

पाणिनि ने जिस कलकूट जनपद का उल्लेख ४/१/१७३ सूत्र में किया है यह यही महाभारत का कालकूट ही है। यमुना की ऊपरी धारा के प्रदेश मे स्थित यहां से यामुनाञ्जन आता था। मालाओं से शरीर सजाने वाले को मालभारी

६/३/६५ (स्त्री को मालभारिणी) कहा जाता था। भाष्य में इसी सूत्र पर उत्पल मालभारिणी कन्या उदाहरण दिया गया है। पाणिनि ने स्रग्वी (स्रज् या माला पहनने वाला) का उल्लेख किया है ५।२।१२१। यह शब्द स्नातक के प्रसंग में प्रयुक्त होता था।[1]

परिवहन

आने जाने या माल ढोने के लिये सवारी वह्य (वह्यंकरणम् ३/१/१०२ वहत्यनेनेति वह्यं शकटम्) या वाहन ८/४/८ कहलाती थी। ये दो प्रकार के होते थे, स्थल के लिये और जल के लिये जिन्हें उदवाहन कहते थे। वाहन का नाम उसमें लदे हुये बोझ के अनुसार पड़ता था।

रथ ४/२/१०

रथ विशेष कर मनुष्यों के आने–जाने का यान था। रथों का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था (४/२/५०–५१। सेना में भी रथों का उपयोग होता था। सूत्र २/४/२ में सेनांग का उदाहरण देते हुये काशिका में रथिकाश्वारोहम् आया है।

रथ कई प्रकार के होते थे जिनका नामकरण खीचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था। खींचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य–युग्यं च पत्रे ३/१/१२१ कहा गया है। इतर साहित्य में इन दोनों को वाहन अर्थात् सवारी भी माना गया है।

---

१. **तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।**
स्रग्विणं तुल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं पिता।।–मनु ४/२८

पाणिनि ने रथांग को अपस्कर भी कहा है ६/१/१४६, जो रथ का कोई विशेष भाग या उसका पहिया भी हो सकता है, किन्तु महाभारत में बराबर उपस्कर शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] अपस्कर का नहीं। रथ के पहिये, जुए आदि के लिये 'रथ्य' इस विशेष शब्द का पाणिनि ने उल्लेख किया है।[2] रथकारों की भाषा में इस शब्द का विशेष प्रचलन रहा होगा क्योंकि वे रथ के चक्र वा जुए को अधिक सावधानी से बनाते और मूल्यवान् समझते थे।

धुरे के लिये अक्ष शब्द था ५/४/७४। कुत्सित धुरे को—'काक्ष' कहा जाता था ६/३/१०४। इसी प्रसंग में पाणिनि ने कद्रथ का भी उल्लेख कुत्सित रथ के लिये किया है सम्भवतः काक्ष एवं कद्रथ का आपसी सम्बन्ध था।

प्राचीन भारत में रथ बनाने की चार अवस्थायें थी। सर्वप्रथम बढ़ई रथ के एक—एक भाग जैसे रथचक्र, ईषादण्ड, अक्ष, युग, कूबर आदि को अलग—अलग बना लेता था, दूसरी अवस्था में वह उन्हें एक में ठोंकता और मिलाता था। इन दोनों अवस्थाओं का उल्लेख भाष्य[3] में है। तीसरी अवस्था वह थी जिसमें रथ को चमडे एवं कपड़ों से ढका (मढ़ा) जाता था इसका उल्लेख पाणिनि ने ४/२/१०—११ में किया है। चौथी अवस्था में रथ को जहां तहा आवश्यक रस्सियों से कसा जाता था। इस प्रक्रिया का संकेत पाणिनि ने प्राध्वं बन्धने १/४/७८ सूत्र में किया है।

रथ मंढ़ने (परिवृतो रथः) के काशिका में तीन उदाहरण हैं—वास्त्र, काम्बल, चार्म। कम्बल से मढे हुये रथों में पाणिनि ने पाण्डुकम्बली रथ का विशेष रुप से उल्लेख किया है—पाण्डुकम्बलादिनिः

---

१. महाभारत सभा पर्व ५४/४, महाभारत भीष्म ५६/६
२. रथस्येदं रथ्यां चक्रं वा युगं वा, रथांग एवस्येते नान्यत्र, अनभिधानात्—काशिका ४/३/१२१
३. यथा तर्हि रथागानि विहतानि प्रत्येक ब्रजिक्रियां प्रत्यसमर्थानि भवन्ति तत् समुदायश्च रथ समर्थ ·। १।२।४५ वा० १० महाभाष्य

४/२/११। काशिका के चार्मण रथ उदाहरण पर भी पाणिनि से विशेष प्रकाश पड़ता है। यों तो साधरण रथ मामूली चमड़े से मढे जाते थे किन्तु द्वैप वैयाघ्रादञ् ४/२/१२ सूत्र से प्रतीत होता है कि बाघ और चीते के चमड़े भी विशेष रथो को मढने के काम में लाये जाते थे। ऐसे रथ द्वैप एवं वैयाघ्र कहलाते थे। अपने देश में वैयाघ्र रथ की परम्परा वैदिक युग से आरम्भ हो गई थी और वह राजाओं के काम में आता था। राज्याभिषेक के समय राजा वैयाघ्र रथ पर बैठकर उत्सव यात्रा के लिये निकलता था। रामायण में राम के यौवराज्य पद पर अभिषेक के लिये अन्य सामग्री के साथ वैयाघ्र रथ भी लाया गया।[१] पूर्व देश के राजा, युधिष्ठिर के लिये जो उपहार लाये थे उनमें वैयाघ्र रथ भी था, जिसे वैयाघ्र परिवारित रथ (बाघ के चमड़े से मढ़ा हुआ रथ)[२] अथवा सहस्रसमिति वैयाघ्र राज–रथ (एक हजार कार्षापण मूल्य का वैयाघ्र नामक राजकीय रथ)[३] कहा गया है। वैयाघ्र चमड़ा और चीजे मढ़ने के काम में आता था जैसे–महाभारत में ही राजकुमार भीम की तलवार की म्यान को वैयाघ्र कोष कहा गया है।[४]

भिन्न प्रकार के मार्गो में कौटिल्य ने रथ–पथ का विशेष रुप से उल्लेख किया है।[५] वह रथ जो इतना मजबूत बना हो कि अच्छे रास्ते के समान ही ऊबड़–खाबड़ मार्ग में भी ले जाया जा सके 'सर्वपथीन' ५/२/७ कहलाता था।[६] वह सारथि जो सब तरह के अर्थात् सीधे और कड़वे जानवरों को हांक सके सर्वपत्रीण ५/२/७ कहा जाता था, यह सारथि की सुघड़ाई का वाचक था।

परिस्कन्दः प्राच्य भरतेषु ८/३/७५ सूत्र में पाणिनि ने लिखा है कि भरत जनपद और प्राच्य देश में परिस्कन्द शब्द प्रचलित था।

---

१. रामायाण, अयोध्या० ६/२८
२. महाभारत, सभापर्व ५१/२३
३. महाभारत, सभापर्व ६१/४
४. महाभारत, विराट पर्व ३८/३०, ५५
५. अर्थशास्त्र, २/४
६. सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनो रथ.–काशिका ५।२।७

इसकी ध्वनि है कि उदीच्य देश में इसका उच्चारण मूर्धन्य षकार के साथ परिष्कन्द होता था। परिष्कन्द उन दो सैनिकों को कहते थे जो रथ के दोनों ओर पहियो के साथ रहकर दोनों ओर के हमले से रथी का बचाव करते थे। अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में पांच बार परिष्कन्द शब्द आया है। अथर्व० १५/२/६ में इसका रुप द्विवचनान्त है किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में एकवचन है।[1] महाभारत में परिष्कन्द नामक परिचारकों को चक्ररक्ष कहा गया है।[2] उपरिलिखित प्राध्वं वन्धने गाड़ी और रथों के बनाने में सबसे अन्तिम प्रक्रिया वह थी जिसमें उन्हें रस्सी या डोरियों से कसा जाता था। पाणिनि ने प्राध्वं बन्धने १/४/७८ सूत्र में इसी का उल्लेख किया है। सूत्र का व्याकरण परक अर्थ इतना ही है कि प्राध्वंकृत्य पद बांधने के लिये प्रयुक्त होता है। प्रश्न उठता है कि प्राध्वंकृत्य का अर्थ बन्धन कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि गाड़ी या रथ का सब ठाट तैयार हो जाने पर जब बढ़ई का काम समाप्त हो जाता तो ग्राहक उसे अपने घर ले आता था, वह गाड़ी तब तक काम के योग्य अर्थात् मार्ग में चलने योग्य नहीं समझी जाती थी जब तक उसे रस्सियों से कसा न जाय। सग्गड़ या लढ़िया गाड़ी के ढांचे और जुए को बरही (बद्ध्री) नामक मोटी रस्सी से कसकर बांधते हैं और रथ को इसी प्रकार सूत की जन्दनी नामक डोरियों से बहुत सफाई के साथ कसते हैं। कसकर बांधने की अन्तिम प्रक्रिया से ही प्रत्येक वाहन अध्व के अनुकूल बनाया जाता है। चाहे सारी गाड़ी या मढ़ा हुआ रथ तैयार हो किन्तु बन्धन के बिना वह प्राध्व नहीं होता।

पाणिनीय सूत्र उपसर्गादध्वनः ५/४/८५ का एक उदाहरण है प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः, प्राध्वं शकटम्। इससे ज्ञात होता है कि मार्ग में चालने के योग्य रथ या गाड़ी को प्राध्व कहा जाता था। प्राध्वंकृत्य

---

१. भूम्ने परिष्कन्दम्—परिचारकम्, —भट्ट भाष्कर, अथर्व० १५/३/१० तस्य देवजना परिस्कन्दा आसन्।

२. महाभारत, भीष्मपर्व १८/१६

का प्रत्युदाहरण प्राध्वंकृत्वा था। यदि मार्ग में चलती कोई गाड़ी टूट जाये तो उसे सड़क के एक किनारे रोक देते है और फिर मरम्मत करके उसे चलाते हैं। प्राध्वं कृत्वा का यही अर्थ है अर्थात् जो चलती हुई गाडी रास्ते से उतर गई हो उसे ठीक करके रास्ते पर डाल दिया जाय। दोनों शब्दों में व्याकरण की बात इतनी ही थी कि प्राध्वंकृत्य में ल्यप् प्रत्यय और समास होता प्राध्वं कृत्वा में नहीं।

भस्त्रा ४/४/१६

भस्त्रा का लोक में अर्थ लोहार की धोंकनी है, किन्तु इस शब्द का मूल अर्थ फुलाई हुई खाल लिया जाता है। इसी कारण भस्त्रा उस प्रकार के बजरे को कहते थे जो भेंड़–बकरी या उससे बड़ी खालों को हवा से फुलाकर और एक दूसरे में बांधकर बनाया जाता था। पाणिनि ने इस विशिष्ट अर्थ में इस शब्द को प्रयोग किया है। भस्त्रादिभ्यःष्ठन् ४/४/१६ सूत्र के अनुसार भस्त्रिक उसे कहते थे जो भस्त्र के बजरे से नदी पार कराता या बोझा ढोता था (भस्त्रया हरति भस्त्रिकः)। पंजाब, उत्तर–पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान की पहाड़ी नदियों में यही नदी पार करने का सबसे सुरक्षित एवं क्षिप्र उपाय है। बलूचिस्तान में ऐसे बजरे या तमेड़ों को जक कहते हैं (तिब्बती याक या झब्बू गाय की खाल से बनाया हुआ)। इस समय बकरे की खालों को सीकर जक बनाते हैं, जिनका एक पैर हवा भरने के लिये खुला छोड़ रखते हैं इन फुलाई हुई खालो के ऊपर बांस बांधकर या मछुओं का जाल फैलाकर एक साथ बांध लेते हैं और यात्री उन्हीं पर बैठकर सात–आठ मील प्रति घण्टा की रफ्तार से आनन्दपूर्वक यात्र करते है। पंजाब में दो बैलों की फुलाई डुई खालों पर चारपाई विछाकर बैठ जाते हैं। इस प्रकार के बजरे बहुत ही सुविधा जनक रहते हैं। जैसे ही यात्री ठिकाने पर पहुँच जाते हैं, मल्लाह खाल को पटककर कन्धे पर डाल लेता है और नदी किनारे

पैदल चलता घर आ जाता है। भारतवर्ष एवं प्राचीन ईरान में भी इस प्रकार के बजरों की प्रथा थी, जिसे पाणिनि ने भस्त्र कहा है।

पाणिनि का दूसरा सूत्र है—हरत्युत्संगादिभ्यः ४/४/१५। इसके अनुसार उत्संगेन हरति औत्संगिकः, यह प्रयोग बनता था। उसी गण में उडुप, उत्पट, पिटक ये तीन शब्द और पढ़े हैं। ये शब्द विभिन्न प्रकार की नावों के वाचक हैं। उत्संग का गोद अर्थ यहां संगत नहीं है, क्योंकि गोद में ढोने की छणिक क्रिया से भाषा में शब्द की आकांक्षा नहीं होती। जिस प्रकार भौलिया, पनसुइया, पटेला, सारंगा आदि भिन्न—भिन्न प्रकार की नावें गंगाजी में चलती है। और उनके खेने वाले मल्लाह को हम पनसुइया वाला, पटेलेवाला, भौलियावाला आदि नामों से पुकारते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति संस्कृत भाषा में भिन्न प्रकार की नावों के आधार पर बने हुये नाविक वाची शब्दों की थी। भास्त्रिक, औत्संगिक, औडुपिक आदि का अर्थ इस पृष्ठभूमि में ठीक प्रकार समझा जा सकता है। उत्संग भी एक प्रकार की छोटी नाव होती थी। इसी प्रकार उडुप, उत्पथ और पिटक नावों के नाम थे। भस्त्रदिगण में भरट् शब्द का पाठ है, जो सम्भवतः लकड़ी के लट्ठों को बांधकर बनाया जाता था, जिसे भरड़ा कहते हैं।पिटक भी एक प्रकार की नाव थी जो घड़ों को उलटकर उनकी गर्दन में बांधकर एवं उसके ऊपर चारपाई बिछाकर बनाई जाती थी, इसे ही कहीं—कहीं घरनई या घण्डेल भी कहते हैं। वाल्मीकि रमायण में लट्ठो को बांधकर बनाये हुये प्लव या बजरे का उल्लेख है जिसे संघाट कहा गया है।[1] उडुप एक आदमी से चलायी जाने वाली छोटी डोंगी प्रतीत होती है।

शकट ४/४/८०

बोझा ढोने की बड़ी गाडी या सग्गड़ को शकट और उसमें जुतने वाले तगड़े बैल को शाकट ४/४/८० कहते थे। जो बैल जिस

१. रामायण, अयोध्याकाण्ड ५५/१४, १८

प्रकार की गाड़ी खींचता था उसी के अनुसार उसका नाम पड़ जाता था और उसके लिये रातिब और खातिर का प्रबन्ध उसी प्रकार किया जाता था। पतञ्जलि ने शकट सार्थ का उल्लेख किया है। प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि पांच–पांच सौ छकड़ों पर माल लादकर सार्थवाह लोग लम्बी–लम्बी यात्रायें करते थे। यह सब दृढ़ ठुके हुये शकट एवं खींचने वाले धुरन्धर बैलों की कृपा पर निर्भर था।

आश्वीन अश्वस्यैकाहगमः ५/२/१६

एक घोडा एक दिन में जितनी यात्रा करता था वह दूरी आश्वीन कही जाती थी। अथर्ववेद तीन योजन और पांच योजन के बाद आश्वीन दूरी का उल्लेख है।[१] अर्थशास्त्र में आश्वीन दूरी की लम्बाई का निश्चय किया गया है, क्योंकि सरकारी नौकरों के भत्ते आदि के लिये इसकी आवश्यकता पडती थी।[२] इस प्रकार अर्थशास्त्र में साधारण सवारी के घोडे की एक दिन की दूरी पांच योजन और वाहक की छह योजन कही गयी है। यह बात अथर्ववेद के उस प्रमाण से भी मेल खाती है जिसमें आश्वीन दूरी को पांच योजन से कुछ अधिक कहा गया है। (१ योजन=५$^{५}/_{४४}$ मील)।

---

१ यत् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्–अथर्व० ६/१३१/३

२. अर्थशास्त्र २/३०
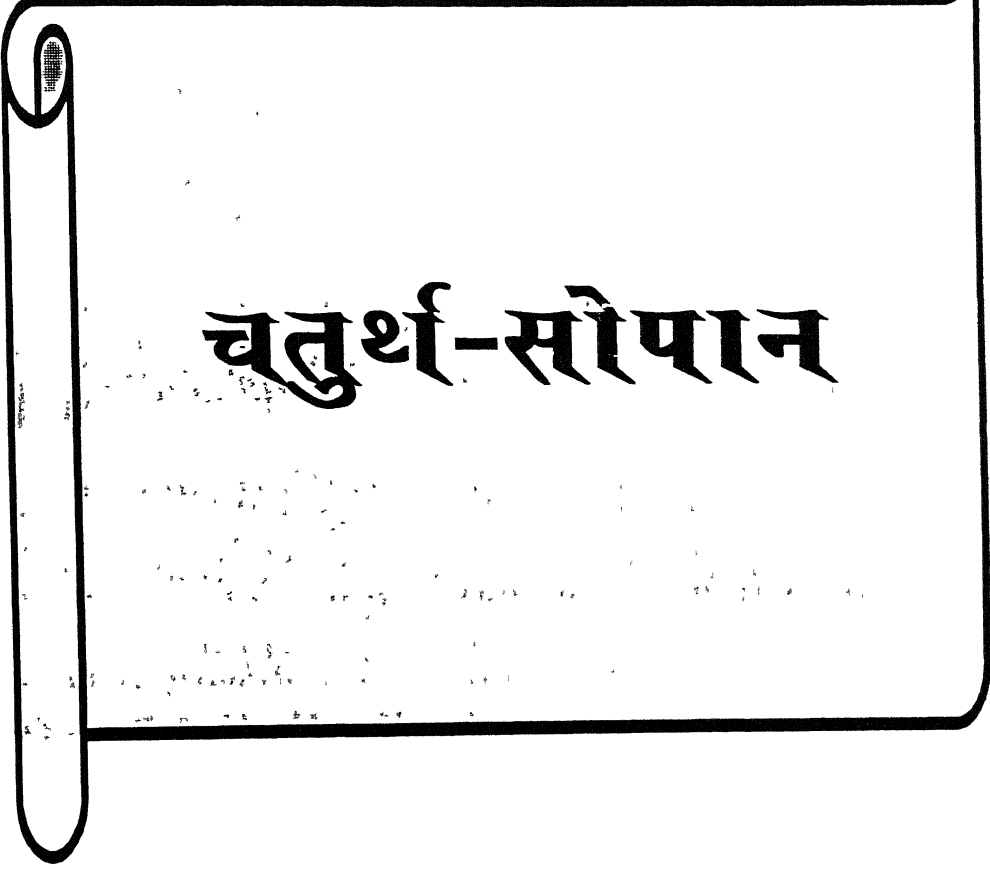
चतुर्थ-सोपान

चतुर्थ-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित आर्थिक जीवन

कृषि एवं पशुपालन

खेती के लिये सूत्रों में कृषि शब्द है, मूलतः कृषि शब्द का अर्थ केवल हल चलाना, जैसा महाभारत में भी पाया जाता है—बिक्री की वस्तुओं में वह अच्छी है जो दुकान में सजी हो, खेती की सभी क्रियाओं में हल चलाना उत्तम कहा जाता है। हरी फसल की निराई उत्तम है, वाहनों में बैल का वाहन सर्वोत्तम है।[1] कात्यायन एवं पतञ्जलि ने कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया— कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या, हल चलाना नही अपितु बीज, बैल एवं कर्मकर आदि के लिये भोजन का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अर्थ के अन्तर्गत है।[2] सूत्रो में कृषि जीवन के सम्बन्ध में कई प्रकार के शब्द हैं—हलि (एक प्रकार का बड़ा हल ३/१/११७) हल ३/२/१८३, ४/४/८१, हलयति (हल चलाना ३/१/२१), मूलाबर्हण ४/४/८८, कर्ष ४/४/६७, वाप (वुआई ५/१/४५) कृषीवल शब्द ५/२/११२। खेती करने वाले किसान के लिये कृषिवल शब्द चलता था। कृष्यासुति परिषदो वलच्, ५/२/११२। इस नये शब्द ने कृषि शब्द को हटा दिया था। कीनाश शब्द भी इस समय प्रचलन में नहीं रह गया था।

---

१ **पण्यानां शोभनं पण्यं कृषीणां वाद्यते कृषिः।**
बहुकारं च सस्यानां वाहयेवा हयं तथा गवाम्।। शान्तिपर्व १८६।/०

२ नाना क्रियाः कृषेरर्थाः नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्तते। किं तर्हि, प्रतिविधानेऽपि वर्तते, यदसौ भक्तबीज बलीवर्दै . प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थ :—भाष्य, ३/१/२६

ब्राह्मण ग्रन्थों में कृषीवल शब्द नहीं मिलता है। कृषि एवं पशुपालन से सम्बन्धित शब्दों का जो प्रयोग पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में किया है प्रस्तुत सोपान के इस उपखण्ड में उनका अध्ययन किया जा रहा है।

कृषिकर्म

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार खेती का पूरा स्वरूप यह है— कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः शतपथ १/६/१/३ अर्थात, जोतना, बोना, काटना, मणनी करना। प्रत्येक के विषय में सूत्रो की सामग्री इस प्रकार है —

हलयति

हलि गृहणाति हलयति ३/१/२१। भाष्य में लिखा है कि किस प्रकार से खेत का स्वामी एक ओर बैठा रहता और उसके मजदूर पांच–पांच हलों से उसके लिये खेत जोतते थे।[1] जोतने के लिये कृष् धातु थी। आजकल हिन्दी में काढ़ना खैंचना दोनों क्रिया जोतने के अर्थ में भी व्यवहृत होती है। खेतिहर कमेरों को क्षेत्र स्वामी उचित समय पर भक्त या भात (भोजन) देता था।

यूनानी लेखक भारत में आने पर यहां की भूमि की उपजाऊ शक्ति और किसानों के कौशल देखकर चकित हुये थे। उन्होंने जुताई के विषय में लोगों की सावधानी का भी उल्लेख किया है। पाणिनीय व्याकरण में भी इसका संकेत मिलता है कि खेत की जुताई करने या भूमि कमाने में किसान कितना श्रम करते थे। दो बार की जुताई को द्वितीया करोति एवं तीन बार के लिए तृतीया करोति ५/४/५८ शब्द प्रचलन में थे। उससे भी गहरी फाड के लिये हल को उल्टा चलाते थे जिसके लिये शम्बाकरोति ५/४/५८ शब्द था।[2]

---

१ एकान्ते तूष्णीमासीन उच्यते पञ्चभिर्हलैः कृषतीति।
तत्र भवितव्य पंचभिर्हलेः कर्षयतीति। ३/१/२६ वा० ३

२. अनुलोमकृष्टं क्षेत्र पुनः प्रतिलोमं कृषतीत्यर्थः, काशिका

वाप ३/१/१२६

जुताई के बाद खेत बोने लायक (वाप्य) हो जाता है। ३/१/१२६ सूत्र में आवश्यक अर्थ में ण्यत् प्रत्यय का विधान है। पहले खेत को दो तीन बार जोतकर छोड़ देते हैं, फिर जब बुआई का समय आता है तब जोतकर बीज डालते हैं। ऐसा ही खेत वाप्य कहलाता है। किसानों का मानना है कि जिस प्रकार ऋतु पर गाय–भैंस हरी होने को व्याकुल होती हैं उसी प्रकार धरती भी। कृषि कर्म का सम्बन्ध माता भूमि से है।

उसके लिये शुभ मुहूर्त देखकर बुआई की जाती है। पाणिनि ने आश्वयुजी पौर्णमासी का बुआई के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख किया है (आश्वयुज्या वुञ ४/३/४५)। उस दिन बोये हुये उड़द आश्वयुजक माष कहलाते थे। कौटिल्य ने भी मूंग, उड़द आदि छीमी धान्य को 'मध्यवाप' अर्थात् आषाढ़ एवं कार्तिक के बीच की बुआई के योग्य माना है।[1] उप्ते च ४/३/४४ सूत्र के उदाहरण में हेमन्त जौ और ग्रैष्म व्रीहि का उल्लेख है।

क्षेत्रकर ३/२/२१

'खेत बनाने वाला' यह उस अधिकारी की संज्ञा थी जो खेतों की नाप जोख करता था। मेगस्थनीज ने ऐसे राजपुरूषों का उल्लेख किया है जो भूमि की लगान निश्चित करने अर्थात् बन्दोबस्त के लिये खेतों की नाप–जोख करते हैं।[2] जातकों में जिसे रज्जुग्राहक कहा है, यह वही होना चाहिये। उसका पद अमात्य का था। वह अपनी रज्जु के एक छोर पर खूंटा गाड़कर और दूसरा सिरा क्षेत्रपति को पकड़ाकर खेत की माप करवाता था।[3]

---

१. अर्थशास्त्र २/२४
२. प्राचीन भारत–बी.एन.पुरी पृ० १६८
३ कुरूधम्म जातक ३/२७६

लवनी

लवनी को अभिलाव कहते थे ३/३/२८। जो खेत कटाई या लवनी के लिये बिल्कुल तैयार हो वह लाव्य कहलाता था। लवनी दात्र या लवित्र से की जाती थी। आजकल खेतिहरों की भाषा में इसे लाव कहते हैं। लाव के समय खेतों में बड़ी चहल—पहल रहती है। कटाई करने वाले लावक या लवक कहलाते थे। कटाई शुरू होने को बाड़ लगना कहा जाता है (खेत में बाड़ लग गई, वृध—काटना)। कहीं—कहीं यह बाड़ एक ओर से न करके छिट—पुट की जाती है, कभी—कहीं कभी कहीं। इसे 'उपस्किरति' कहते हैं (किरतौ लवने ६/१/१४०)। मद्र और काश्मीर में कटाई की ऐसी ही चाल थी।[1] मूंग, माष जैसी दलहन फसलों के पौधों को जड़ से उखाड़कर लवनी की जाती है। मूलमस्या बर्हि ४/४/८८

वृत्ति

वार्ताशास्त्र का सम्बन्ध कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि मनुष्यों की जीविका के साधन या वृत्तियों से हैं। जनपदों में फैले हुये आर्थिक जीवन के इस ताने—बाने के लिये जानपदी वृत्ति यह सुन्दर शब्द प्रचलित था ४/१/४२। इस अर्थ मे जानपदी वृत्ति का उल्लेख पाणिनि से पहले यास्क ने किया है— 'जानपदीषु विद्यातः पुरूषो भवति' अर्थात जनपद सम्बन्धी वृत्तियों या शिल्पों में कुशलता प्राप्त किया हुआ पुरूष विशेष समझा जाता है, निरूक्त १/१६। ध्यातव्य यह है कि यास्क ने जानपदी शब्द को विशेष्य मानकर उसका प्रयोग किया है।

वर्षा या प्रावृट्

४/३/१८, ४/३/२६, ६/३/१४—बरसात को प्रावृट् और वर्षा कहा गया है। वर्षा के पूर्व भाग के लिये प्रावृट् विशिष्ट शब्द था।

१ उपस्कारं मद्रका लुनन्ति, उपस्कमं् काश्मीरका लुनन्ति— काशिका ६/१/१४०

श्रावण भाद्रपद के महीनो में पहले को पूर्व वर्षा और दूसरे को अपर वर्षा कहा जाता था (अवयवादृतो ७/३/११) वृष्टि की नाप वर्ष प्रमाण कही जाती थी ३/४/३२। वह दो तरह की थी, पहली जिसमें खेत की कूंड़ें पानी से लबालब भर जांय और सारे खेत में पानी उतिराने लगे—सीतापूरं वृष्टो देवः, दूसरी जिससे खेत में पड़े हुये खुर के निशान मात्र पानी से भरे—गोष्पदपूरं वृष्टो देवः, भाष्य २/४/३३ पर। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रयोग में गोष्पद से प्रमाण लिया जाता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में दो बार वृष्टि एवं दो फसलें होती थीं।[1] पाणिनि ने भी वासन्तकग्रैष्मक (खरीफ) और आश्वयुजक (असौज में बोई जाने वाली और वसन्त में पकने वाली, रबी) फसलों का उल्लेख किया है। ४/३/४५, ४/३/४६।

उमा-भङ्गा ४/३/१५८

अष्टाध्यायी में उमा और भंगा का उल्लेख धान्य के प्रकरण में आया है। उमा और भंगा अर्थात अलसी और भांग के खेतों का उल्लेख है। कौटिल्य ने इसकी जगह अतसी एवं शण कहा है। उमा या अलसी से बने हुये वस्त्र औम या औमक और ऊन से बने हुये और्ण या और्णक कहलाते थे। कपास का उल्लेख किसी सूत्र में नहीं है।

पाणिनि के अतिरिक्त कुछ अन्य वैयाकरण इन्हें धान्य मानने पर आनाकानी करते थे। पतञ्जलि ने मध्य की भूमिका के साथ लिखा है कि धान्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करें तो धान्य वह है जिसकी बढ़िया फसल देख कर चित्त प्रसन्न हो जाय, सो उमा भंग से भी चित्त प्रसन्न होता ही है, अतएव इन्हें धान्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। वस्तुतः सत्य यह था कि प्राचीन काल में जो मुख्य फसलें होती थीं उनकी गणना करके सत्रह धान्यों की सूची बना ली गई थी, जिसमें सन भी था। अतएव पाणिनीयसूत्र के लिये उमा या भंगा को धान्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

---

१. प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन—रोमिलाथापर पृ० ७८

सीता-४/४/६१

यह शब्द ऋग्वेद और उत्तरकालीन संहिताओं में कृषि के देवता और हल की कूंड़ या फाड के लिये प्रयुक्त हुआ है। शनै शनैः पहला अर्थ विलुप्त हो गया। अर्थशास्त्र में केवल एक स्थान पर पुराना अर्थ हैं।[१] शेष स्थानों में सीता का अर्थ विशेष रूप से राजा की भूमि की उपज है।[२] अष्टाध्यायी में इस प्रकार का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं मिलता। सीत्य उस खेत को कहते थे जो हल की जोत में आ गया हो।[३]

सास्य देवता प्रकरण ४/२/२४—३३ में शुन और सीर नामक प्राचीन देवताओं का उल्लेख है। कुछ लोग इन्हें वायु और आदित्य का और कुछ उन्हें लकड़ी का हल और उसके अग्रभाग में लगी हुई कुशी मानते थे। (वैदिक इण्डेक्स २/३८६)। इन देवताओं को दी जाने वाली हवि शुनासीरीय या शुनाशीर्य कहलाती थी।

हल्य-हलस्य कर्षः हल्यः ४/४/६७ काशिका

एक हल की जोत के लिये पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी। इसी सूत्र के उदाहरण में द्विहल्य, त्रिहल्य अर्थात् एक हल की माप से दुगुनी, तिगुनी का भी उल्लेख है। वस्तुतः एक परिवार के भरण—पोषण के लिये पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे, मध्यकाल में इसे ही दोहली या डोहली कहने लगे, जो भूमि मन्दिर आदि के साथ राज्य की ओर से लगा दी जाती थी। मनु ने कुल परिमाण भूमि का उल्लेख किया है।[४] कुल्लूक के अनुसार यह दोहल जाति की भूमि थी। इसीलिये दान में दोहली भूमि देने की प्रथा चली

---

१ सीता में ऋध्यता देवी बीजेषु च धनेषु च। अर्थ० २/२४

२ अर्थ० २/१५

३ सीतया सगत क्षेत्रम् सीत्यम्, ४/४/६१ काशिका

४. मनु० ७/११६

जो एक कुटुम्ब के गुजारे के लिये पर्याप्त हो। एकहल धरती की माप पचीस सहस्र वर्ग हाथ (१$^{१}/_{३}$ एकड) मानी जाती थी, इस हिसाब से द्विहल्य २$^{२}/_{३}$ एवं त्रिहलय पूरे चार एकड़ होती थी। महामाष्यकार पतञ्जलि ने हल्य भूमि के अतिरिक्त परमहल्या का भी उल्लेख किया है जो अवश्य ही उससे भी बडा क्षेत्रफल होना चाहिये। इसी प्रकार सीत्य और परमसीत्य का भी भाष्य में उल्लेख है।

व्रैहेय शालेय ५/२/२

व्रीहि और शलि के खेत पृथक्–पृथक् होते थे जो व्रैहेय एवं शालेय नामों से पहचाने जाते थे। व्रीहि बरसात में बोया जाने वाला धान था जो कार्तिक में तैयार होता था। जिसके यहां व्रीहि या धान की उपज अच्छी होती थी उसे व्रीहिमान् व्रीहिक या व्रीही कहते थे। इन शब्दों से जनपदीय संसार के धनी व्यक्ति का बोध होता था। व्रीहिमान् के लिये ही बहुव्रीहि शब्द पहले प्रचलित था जो पीछे समास का नाम मान लिया गया। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार व्रीहि शरद में पककर तैयार होता था।[1]

अर्थशास्त्र में शालि को व्रीहि से भिन्न माना गया है। यह उखाड़कर फिर से रोपा जाने वाला जड़हन था। शालि की फसल शीत ऋतु मे पकती थी।[2] शालि की अपेक्षा व्रीहि प्राचीन शब्द था। उसे ग्राम्य धान्य या कृष्ट पच्य अन्नों में सर्वप्रथम मानते थे।[3] पतञ्जलि ने लोहित शालि का उल्लेख किया है।[4] आज भी भदई धानों में कई धान लाल होते हैं। ऐसे ही शालि या अगहनी धानों में भी कई प्रजातियां लाल होती हैं। एक प्रजाति बगरी का छिलका काला पर चावल लाल होता है।

---

१ तैत्तिरीय संहिता ७/२/१०/२

२ खर्जूरपुष्पाकृतिभि. शिरोभिः पूर्णतण्डुलै.।
शोभन्ते किञ्चिदालम्बाः शालयः कनकप्रभा.।।–रामायण–अरण्यकाण्ड १६/१

३ यजुर्वेद २८/१२, वृहदारण्यक उपनिषद् ६/३/१३

४ भाष्य २/१/६६ वा० ५

महाव्रीहि पाणिनि के समय में प्रसिद्ध धान्य था, जिसका उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में भी आया है।[1] कात्यायन के अनुसार साठी विशेष चावल का ही नाम था। कोई फसल साठ दिन में पकने से साठी नहीं कही जा सकती। (षष्ठिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ५/१/९०)।

अन्य धान्यों में जौ, मूंग, माष, तिल, अणु कुलत्थ का उल्लेख है। यवानी को कात्यायन ने निकृष्ट जौ कहा है। मुद्ग और माष का उल्लेख पाणिनि से पहले ही वाजसनेयी संहिता में आता है।[2] माष के खेत माष या माषीण कहलाते थे। देहातों में आज भी इस फसल को मासीना कहते हैं। मूलमस्यावर्हि ४/४/८८ पर काशिका में मुद्ग और माष को मूल्य कहा है। पकने पर इनके पौधे जड़ से उखाड़ लिये जाते थे और फिर उनकी फलियां झाड ली जाती थी। जौ, उड़द और तिल के लिये जो खाद या खेत अच्छा हो उसे यव्य, माष्य या तिल्य कहा जाता था। भाष्य में कृष्ण तिलों का नाम है। पाणिनीय में काले या सफेद तिलों का अलग–अलग उल्लेख नही है, पर श्राद्ध कर्म में उपयोगी तिलों का नाम आया है जो प्रायः काले होते हैं। मूल में तैल शब्द तिल के तेल के लिये ही प्रयुक्त होता था— असंज्ञायां तिलयवाभ्यां ४/३/१४६, किन्तु बाद में वैयाकरणों ने सर्षप तैल, इंगुदी तैल इन प्रयोगों को भी समीचीन माना है।[3] तैल शब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः अर्थात् तैल शब्द का प्रयोग प्रत्यय के समान किया जाने लगा। षष्टिक की भॉति कुलत्थ (हिन्दी कुलथी) शब्द भी पहली बार ही अष्टाध्यायी में आया है। इसकी दाल या सत्तू बनाकर खायी जाती थी, इसकी दाल या सत्तू बनाकर खायी जाती थी, किन्तु पाणिनि ने तड़का आदि देने के लिये संस्कारक द्रव्यों में उसका उल्लेख किया है। कुलत्थकोपधादण् ४/४/४।

---

१ तैत्तिरीय संहिता ३/१/५/२

२. वाजसनेयि सहिता १८/१३

३ भाष्य ५/२/२९

वाणिज्य–व्यापार

वाणिज्य

व्यापार के सम्बन्ध में सूत्रों में पर्याप्त सामग्री मिलती है ये शब्द विशेष ध्यातव्य है –

वाणिज्य ३/३/५२, ६/२/१३

व्यापारियों के लिये वणिक् और वाणिज ये दोनों शब्द प्रयुक्त होते थे। किसी भी जाति का व्यापारी हो वह वाणिज कहलाता था। वैश्यों के लिये यह शब्द सीमित न थ जैसे– मद्रवाणिज मद्र देश के साथ व्यापार करने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था।

व्यापारियों के नाम कई कारणों से पड़ते थे, उनके व्यवसाय की विशेषता से, व्यापार की वस्तुओं से, पूंजी के आधार पर अथवा वे जिन देशों से वाणिज्य करते हों, उनके नाम से। सूत्रों में इन सबका उल्लेख यथास्थान किया गया है।

क्रय-विक्रयिक ४/४/१३

वस्नक्रय विक्रयाट्ठन् क्रय विक्रयेण जीवति। वह व्यापारी था जिसका मुख्य काम खरीद–फरोख्त था। यह थोक व्यापारी हुआ, जो सामान एक जगह भरकर दूसरी जगह ले जाकर बेचता था वस्निक उस व्यापारी की संज्ञा होती थी, जो रोकड़– पूंजी व्यापार में लगाता हो, चाहे स्वयं देखभाल न भी करता हो। एक प्रकार से क्रय–विक्रयिक और वस्निक का यही परस्पर भेद था कि एक की पूंजी लगती थी जबकि दूसरा मुख्यत· काम–काज देखता था। पाणिनि ने एक विशेष प्रकार के व्यापारी को सांस्थानिक कहा है (संस्थाने व्यवहरति ४/४/७२) संस्थान का अर्थ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य

है। प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थायें थी। शिल्पियों के संगठन को श्रेणी, व्यापारियों के संगठन को निगम और एक साथ माल लाद कर वाणिज्य करनेवाले व्यापारियों को सार्थवाह कहते थे। सार्थवाह और श्रेणी दोनों ही महाभारत में प्रयुक्त हुये हैं। पाणिनि में सार्थवाह शब्द का प्रयोग नही मिलता, किन्तु व्यापार की यह विधि उस समय भी अवश्य ही विद्यमान थी। विचार करने से अनुमान होता है कि पाणिनि का सांस्थानिक शब्द सार्थवाह के लिये प्रयुक्त हुआ है। सार्थ या समूह में व्यापार करने वाले लोगों को सार्थवाह शब्द के जन्म के पहले सांस्थानिक कहा जाता हो, ऐसी सम्भावना है। (संस्थान=समूह)

व्यापारिक वस्तुओं के नाम से भी व्यापारी प्रसिद्ध हो जाते थे। जैसे– अश्ववाणिजः, गोवाणिजः। इसी प्रकार उन देशों के नाम से जिनके साथ वे प्रायः व्यापार करते थे व्यापारियों का नाम पड़ता था। (गन्तव्य पण्यं वाणिजे ६/२/१३)। व्यापारियों में जो उच्चस्थानीय या चोटी के होते थे वे औरों की तुलना में परमवाणिज या उत्तमवाणिज्य कहलाते थे। इन उदाहरणों–काश्मीरवाणिज, मद्रवाणिज, गान्धारिवाणिज से संकेत मिलता है कि अन्तर्प्रान्तीय व्यापार होता था।

आपण ३/३/११९

दुकान या बाजार के लिये आपण शब्द था।[1] बिक्री की वस्तुएं पण्य या पणितव्य कहलाती थीं ३/१/१०१। पण्य सामान्य शब्द था। कोई वस्तु भाण्डशाला में रखी हो, बिक्री के निमित्त तो वह भी पण्य हो सकती थी, किन्तु जो वस्तुएं बिक्री के निमित्त दुकान में सजाकर रखी जाती थी, उनके लिये क्रय्य शब्द प्रयुक्त होता था।[2] महाभारत में क्रय्य के विशिष्ट अर्थ में पण्य का भी व्यवहार हुआ है,

---

१. एत्य तस्मिन् आपणन्त इत्यापण–काशिका ३/३/११९

२. क्रय्यस्तदर्थे ६/१/८२

जैसे पण्यानां शोभनं पण्यम्[1] का अर्थ यह है कि जो बिक्री की वस्तुयें हो, उनमें वे उत्तम हैं जो उस निमित्त से पाण्य रूप में दूकान या बाजार में सजायी हुई हैं, सूत्र का क्रय्य शब्द ठीक उन्हीं के लिये है।

व्यवहार ४/४/१३, ४/४/५१

वाणिज्य–व्यापार के लिये सामान्यतः शब्द व्यवहार प्रचलन में था। उसे पण भी कहा गया है। व्यवहार का मुख्य लक्षण क्रय–विक्रय है। ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहार आयात–निर्यात सम्बन्धी व्यापाक व्यापार के लिये और पण स्थानीय क्रय–विक्रय के लिये प्रयुक्त होता था। आपण अर्थात् दुकान या बाजार में क्रय–विक्रय के लिये प्रदर्शित वस्तुयें पण्य कहलाती थी।

मूल और लाभ ४/४/६१।, ५/१/४७

पूंजी मूल थी। लाभ सहित पूंजी या लागत को मूल्य कहते थे।[2] लाभ वह है जो मूल द्वारा प्राप्त होता है। ४/४/६१ सूत्र में पाणिनि ने दो मूल शब्द का प्रयोग किया है जिसमें प्रथम मूल का अर्थ मूलेन आनाभ्यम् है, जबकि द्वितीय मूल का अर्थ मूलेन समं मूल्यम्। पहले मूल्य का अर्थ है लागत और लाभ, दूसरे मूल्य का अर्थ है वह वस्तु जो लागत के समतुलय हो अर्थात् उसमें जो लागत आई है, उसके अनुरूप या बराबर कीमत की हो।

भाषा मे ऐसे शब्द भी प्रचलन मे थे जिनसे यह प्रकट हो कि अमुक वस्तु की बिक्री से कितना लाभ हुआ है–तदस्मिन् वृद्ध्याय– लाभशुल्कोपदा दीयते ५/१/४७ जैसे पंचक, सप्तक, शत्य– शतिक, साहस्र, जिसमें पांच, सात, सौ या हजार कार्षापण का लाभ हो।

---

१ महाभारत शान्ति पर्व १८६/२०

२. पटादीनां उत्पत्तिकारण मूलम्, मूल्य हि सगुणं मूलम्–काशिका ४/४/६१

शुल्क ५/१/४७

व्यापारियों के माल पर जगह जगह चुंगी लगती थी, जिसे शुल्क कहते थे। जितना शुल्क माल पर पड़ता था, उसके आधार पर व्यवहार में माल का नाम पड़ जाता था, जैसे—पंचक अर्थात् वह माल जिस पर पांच कार्षापण चुंगी लगी हो और इसी प्रकार सप्तक, सहस्रक आदि। चुंगीघर को शुल्कशाला और वहां से प्राप्त होने वाली आय को शौलकशालिक कहा जाता था। शुल्कशाला राज्य के लिये प्रमुख आयस्थान थी। वस्तुतः शुल्क से ही दक्षिणी भाषाओं में सुंक हुआ जिससे बिगड़ कर चुंगी शब्द बना होगा ऐसा मेरा मन्तव्य है। छोटे या फुटकर माल पर चुंगी की रकम कम ही होती थी, जिस पर आधा कार्षापण या अठन्नी चुंगी लगे उसके लिये चुंगी की भाषा में अर्धिक या भागिक—ये दो शब्द प्रचलित थे।[1]

पाणिनि ने पूर्व देश में परम्परा से चले आते हुये कुछ करों का उल्लेख किया है, जिन्हें वहां की भाषा में कार कहते थे—कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ६/३/१०। भाष्य में अविकटोरणः उदाहरण में कहा गया है कि भेड़ों के प्रत्येक झुण्ड या रेवड़ के पीछे एक भेंड़ चुंगी वसूल की जाती थी। काशिका में दो उदाहरण और भी है—यूथपशुः अर्थात् एक झुण्ड या हेडे के पीछे एक पशु चुंगी, नदी दोहनी अर्थात नदी का घाट पार करने वाले हर दूधिये से एक छोटी दोहनी दूध उतराई या चुंगी, वसूल किया जाता था।

साई या सत्यापयति ५/४/६६—बाजार में किसी चीज की बिक्री पक्की करने के लिये दुकानदार ग्राहक से कुछ साई लेता था। इसके लिये सत्याकरोति एवं सत्यापयति ये दो शब्द भाषा में प्रचलित थे। साई का उद्देश्य जैसा काशिका ने लिखा है ग्राहक की ओर से सौदा पक्का करना था—मयैतत् क्रेतव्यमिति तथ्यं करोति। पक्का करने की क्रिया को सत्यंकार[2] कहते थे—कारे सत्यागदस्य ६/३/७०।

---

१ पूरणार्धट्ठन ५/१/४८, भागाद् यच्च ५/१/४६, भागिक का दूसरा रूप भाग्य भी था। अर्ध और भाग शब्द का अर्थ आधा कार्षापण या अठन्नी होता था।

२. याज्ञवल्क्य स्तृति २/६१ मे सत्यकार कृतम्।

मुद्राएँ

इस प्रकरण में कई सोने चांदी और तांबे की मुद्राओं का उल्लेख है जो उस समय व्यवहार में काम आती थी। बाजार में माल खरीदने के लिये सिक्कों का चलन आम बात थी। पहले की उस स्थिति से लोग आगे बढ़ गये थे जिसमें वस्तु विनिमय ही व्यापार का मुख्य साधन होती थी। वस्तुओं का मूल्य दुकानदार और ग्राहकों के बीच में सिक्कों में ही चुकाया जाता था। इसके बड़े सौदे भी होते थे, जैसा पाणिनि ने उल्लेख किया है। जो सामान एक सहस्र कार्षापण से खरीदा जाय वह साहस्र कहलाता था ५/१/२७। हर बड़ी संख्या से भाषा में शब्द नहीं बना करता, पर शत और सहस्र ऐसी संख्यायें हैं, जो प्रायः भाषा में व्यवहृत होती हैं, अतएव उनके सम्बन्ध में ही शत्य और साहस्र शब्द प्रचलित हो गये। बाजार में सोने के निष्क से लेकर तांबे के माष तक बीसियों प्रकार के सिक्के चलते थे। उनके आधार पर छोटे–बड़े मूल्य की अनेक प्रकार की क्रीत वस्तुओं के लिये बहुत से शब्द लोक में प्रचलित थे।

निष्क ५/१/२०, ५/१/३०, ५/२/११९

निष्क वैदिक युग में एक आभूषण था जो सोने का बना होता था। वैदिक संहिताओं की सामग्री से निश्चित रूप से निष्क को सिक्का मानना कठिन है। यद्यपि यह सम्भव है कि गहने की तोल और आकृति व्यवहार में निष्क की निश्चित मान की गई हो और तब लेन–देन या अदला–बदली या गिरवी रखने में निष्क का व्यवहार होने लगा हो।

वाद के युगों में निष्क नियत सुवर्ण मुद्रा बन गई थी, ऐसा निश्चित ज्ञात होता है। जातक, महाभारत और पाणिनि तीनों की सामग्री का एक ही ओर संकेत है। अष्टाध्यायी में निष्क का वर्णन तीन सूत्रों में है–

असमासे निष्कादिभ्यः ५/१/२०

इसका अर्थ यह है कि निष्क, पण, पाद और माष जब समास में न हों तब 'तेन क्रीतम्' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय हो जाता है। निष्क में ठक् प्रत्यय लगाकर नैष्किक शब्द कराया जाता है। पाणिनि के समय में जिस नैष्किक शब्द का प्रयोग होता था उसका अर्थ था 'एक निष्क से मोल ली हुई वस्तु'। इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये पाणिनि ने व्याकरण की दृष्टि से ठक् प्रत्यय का विधान किया। मुद्राशास्त्र की दृष्टि से तथ्य यह थ कि निष्क पाणिनिकाल में प्रचलित एक सिक्का था। इसी तरह पण से पाणिक, पाद से पादिक और माष से माषिक इन शब्दों का प्रयोग होता था। पतंजलि के भाष्य में एक स्थान पर ऐसा भी उदाहरण है जिससे 'नैष्किक' शब्द का दूसरा अर्थ भी मालूम होता है।[१] ब्राह्मण की योग्यता या गुण—परिप्रश्न के विचार के समय कहा जाता था कि यह ब्राह्मण सौ की दक्षिणा के योग्य है, यह सहस्र की या यह एक निष्क की। सम्भवतः यज्ञ आदि कर्मो में ब्राह्मणों को निमन्त्रित करते समय इस प्रकार के विशेषणों से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा का अनदाजा लगाया जाता था। 'शत्य' ब्राह्मण की योग्यता सौ चांदी के कार्षापणों के योग्य थी। साहस्र ब्राह्मण को एक सहस्र कार्षापण यज्ञ—दक्षिणा में या राजा के यहां उपहार में मिलता होगा।

द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ५/१/३०

निष्क के प्रचलित सिक्के होने की बात को यह सूत्र और भी पुष्ट करता है। कुछ वस्तुयें दो निष्क और कुछ तीन निष्क के मूल्य से ली जाती थी। व्याकरण की दृष्टि से विकल्प लोप के द्वारा इन दोनों के लिये ये प्रयोग बनते थे —

---

१. किमय ब्राह्मणोऽर्हति ? शतमर्हति शत्यः। शतिकः। साहस्रः। नैष्किक इति न सिध्यति—महाभाष्य सूत्र ५/१/१६ 'न सिध्यति' शब्द व्याकरणशास्त्र के पूर्वपक्ष की उत्थापना के लिये है।

द्विनिष्कम्, द्विनैष्किकम्

त्रिनिष्कम्, त्रिनैष्किकम्

शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ५/२/११६

पाणिनि के समय में सौ निष्क की हैसियत वाला व्यक्ति नैष्कशतिक (निष्कशतमस्यास्तीति) और एक सहस्र निष्क वाला नैष्कसहस्रिक कहलाता था। व्यापारिक समृद्धि के उस युग में व्यक्ति विशेष के आढ्यभाव या आर्थिक प्रतिष्ठा का निर्देश करने के लिये ये वास्तविक पदवियां थी। नगर की समृद्धि का अनुमान नागरिकों की अमीरी से लगाया जाता था। इस आंख से भी उस समय भिन्न–भिन्न नगरों के निवासियों को देखने की प्रथा थी। पतञ्जलि का यह वाक्य कि मथुरा के रहने वाले पाटलिपुत्र के निवासियों से अधिक धनी हैं, इसी प्रकार के समाजिक व्यवहार की ओर संकेत करता है।[1] महाभारत में भी सौ निष्क और सहस्रनिष्क वाली सम्पत्ति का उल्लेख आया है।[2] पतञ्जलि ने निष्कधन और शतनिष्कधन शब्दों का उल्लेख किया है।[3] महाभारत के अनुसार १०८ सुवर्ण मुद्राओं के साथ निष्क उस समय धन की एक इकाई मानी जाती थी।[4] काशिकाकार ने यह प्रश्न किया है कि निष्कशत और निष्कसहस्र पद से पूर्व में सुवर्ण पद क्यों न जोड लिया जाय, जिससे यह मालूम हो सके कि किस धातु के निष्क उस व्यक्ति के पास हैं, और इसका उत्तर भी काशिकाकार ने स्वयं दिया है कि लोक में इस तरह कहने की प्रथा नहीं है। भाषा तो लोक के पीछे चलने वाली है। जब निष्क सोने का ही होता है, तो व्यर्थ में सुवर्ण पद जोड़ने से क्या लाभ ? एवं

---

१. माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य· आढ्यतराः–भाष्य ५/३/५७
   सांकाश्यकेभ्य· पाटलिपुत्रका अभिरूतराः–भाष्य १/३/११
२. शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च सम्मितम्–महाभारत, अनुशासन १३/४३
३. नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते–भाष्य ५/३/५५
४. साष्टं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्धनं तथा–महाभारत, द्रोण पर्व ६७/१०

पुनः नैश्कशतिक पदवी में जिस प्रतिष्ठा की ध्वनि है वह तो सुवर्णनिष्क से ही सम्भव थी न कि रौप्यनिष्कों से। इसलिये भी नैष्क शतिक एवं नैष्कसाहस्रिक जैसे प्रयोगों मे सोने का सिक्का लोक व्यवहार से समझ लिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि निष्क सोने का सिक्का था। उद्दालक आरूणि ने स्वैदायन आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये एक सुवर्णनिष्क की शर्त बदी थी।[१]

निष्क नाम से जिस सोने के सिक्के का वर्णन मिलता है, क्या उसी के मेल में उससे छोटे फुटकर सिक्के भी थे ? जैसे आज पत्र मुद्रा का प्रचलन है सौ की नोट कागज की होती है तो पचास की भी और दस की भी। कुछ समय पहले तक अंग्रेजी पौण्ड सोने का सिक्का था, उसी के फुटकर सिक्के भी सोने के थे। इसी तरह उस समय भी निष्क के वाद अर्धनिष्क एव पादनिष्क का अनुमान होता है। पाणिनि ने इनका उल्लेख नही किया है जबकि पतंजलि न किया है।[२] डा० भण्डारकर का अनुमान है कि राजा जनक ने अपने यज्ञ में ब्राह्मणों को दक्षिणा के लिये गायों की सींगों में जो २०,००० पाद सिक्के बांधे थे (गोसहस्र के प्रत्येक श्रृंग में दस–दस पाद) वे सोने के ही थे। यह सम्भव है, क्योंकि उस यज्ञ को 'बहुदक्षिण' कहा गया है। उनका यह भी अनुमान है पाणिनीय सूत्र ५/१/३४–पण पाद माष शताद्यत् में जो पाद है वह भी सोने का ही सिक्का था। यह दूसरा अनुमान चिन्त्य है। पण कार्षापण का छोटा नाम था। उसके साथ पढा जाने से पाद चांदी के कार्षापण का चौथाई भाग था। पाद के बाद का माष सिक्का तांबे का था। चांदी के पण और ताम्र माष के बीच में पढ़ा हुआ पाद सोने के सिक्के का वाचक नहीं माना जा सकता।

---

१. शतपथ ११/४/१/८

२ निष्के चोपसख्यानम् वार्तिक सूत्र ६/३/५६ के उदाहरण मे पादनिष्क का उल्लेख है।

त्रिंशत्क ५/१/२४

पाणिनि के सिक्को की सूची में विंशतिक और त्रिशत्क ये दो नाम रहस्यमय हैं। पाणिनि ने जिस त्रिंशत्क का उल्लेख किया है वह विंशतिक का डेढ गुना था और उसका मूल्य अघ्यर्धकार्षापण के बराबर रहा होगा। श्री दुर्गाप्रसाद जी को १०४ से १०५.७ ग्रेन या ५८ रत्ती के सिक्के मिले थे, उनकी पहचान अष्टाध्यायी के त्रिंशत्क से की गई है।

विंशतिक ५/१/२७, ५/१/३२

शतमान विंशतिक–सहस्र वसनादण् ५/१/२७, विंशतिकात्खः ५/१/३२। पहले सूत्र में बैशतिक (एक विंशतिक से मोल लिया हुआ) और दूसरे से अध्यर्धविंशतिकीन, द्विविंशतिकीन, त्रिविंशतिकीन (१½, २, ३ विंशतिक से क्रीत) ये प्रयोग बनते हैं। विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम् ५/१/२४ सूत्र के द्वारा असंज्ञा में विंशक–त्रिंशक और संज्ञा अर्थ में पाणिनि ने विंशतिक और त्रिशत्क पदों का विधान किया है। प्रसंग से ये संज्ञायें सिक्कों की जान पड़ती है। विंशतिक शब्द बीस हिस्सों वाले सिक्के का संकेत करता है।

पाणिनीय सूत्र. १/२/६४ पर पतञ्जलि ने लिखा है– अपरस्त्वाह। पुराकल्प एतदासीत षोडशमाषाः कार्षापणं, षोडश पलाश्च माषशम्बट्यः। तत्रसंख्यासामान्यात्सिद्धम्–अर्थात् किन्हीं आचार्य का मत है कि पूर्व समय में सोलह माष का कार्षापण होता था और सोलह पल की एक माषशंवटी होती थी, तब दोनों माष शब्दों के साथ सोलह की संख्या का समान सम्बन्ध था। जिस आचार्य का यह पक्ष है उसके मत मे १६ माष वाला कार्षापण पुराकल्प की घटना थी। डा० शामशास्त्री का अनुमान है कि पुराकल्प वाला यह कार्षापण वही है जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। परन्तु

इससे यह अनुमान नहीं निकाला जा सकता कि कौटिल्य से पहले २० माषक वाले कार्षापण का अथवा कौटिल्य के बाद १६ माषकवाले कार्षापण का प्रचार नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही समय में देशभेद से दोनों प्रकार के कार्षापण प्रचलन में थे।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि २० भाग वाले कार्षापण का भी प्रचलन था। पाणिनि के विंशतिक सिक्के का सम्बन्ध इसी बीस भाग वाले कार्षापण से था। इसी कारण उसकी एक विशेष संज्ञा पड़ गई थी। साथ ही १६ माषक वाला कार्षापण भी पाणिनि को ज्ञात था और व्यवहार में वही अधिक प्रचलित भी रहा होगा।

विंशतिक सिक्कों के वास्तविक नमूने भी मिल गये हैं। कुछ लखनऊ संग्रहालय में हैं। उनकी तोल ७०–८० ग्रेन तक है। उन पर आहत रूपों और बनावट के आधार पर यह निश्चित ज्ञात होता है कि वे ३२ रत्ती वाले कार्षापण सर्वप्रथम नन्दराजाओं ने चलाया था। उनके पूर्व विम्बिसार के काल में ४० रत्ती वाले विंशतिक का ही प्रचार था।

शतमान ५/१/२७

शतमान का नाम केवल एक सूत्र शतमान विंशतिक सहस्रवसनादण् ५/१/२७ में ही आया है जिसका अर्थ है शतमान, विंशतिक, सहस्र और वसन–इन चार शब्दों से क्रीतादि अर्थो में अण् प्रत्यय होता है। शतमानेन क्रीतम् शतमानम् अर्थात, शतमान मुद्रा से मोल ली हुई वस्तु के लिये 'शातमान' पद का प्रयोग होता था।

पाणिनि ने यह नहीं कहा है कि शतमान सिक्का सोने का था पर शतपथ ब्राह्मण से मालूम होता है कि शतमान स्वर्णमुद्रा थी।[1]

---

१ तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा–शतपथ ५/५/५/१६
हिरण्य दक्षिणा सुवर्ण शतमानं तस्योक्तम–शतपथ ८/२/३/२

पर समयक्रम में शतमान का अधिक सम्बन्ध चांदी के सिक्के से होने लगा। शतपथ में कहा गया है देवता के दोनों रूपों के कारण विचित्रता के लिये सोने और चांदी दोनों की दक्षिणा देनी चाहिये। यह दक्षिणा शतमान होनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य की आयु १०० वर्ष होती है।[१] यहां सौ मान या भागों वाले राजत शतमान का उल्लेख है। कात्यायन स्रौत सूत्र सुवर्ण शतमान के साथ–साथ राजत शतमान का भी उल्लेख करता है।[२] अलग सौवर्ण शतमान का भी स्पष्ट उल्लेख है।[३] वैदिक संहिताओं में ऐसा प्रमाण नहीं है कि शतमान सौ रत्ती का था, पर सायण और कर्काचार्य ने उसकी यही व्याख्या की है।[४] संहिता ग्रन्थों में कृष्णल या रत्ती तोल का प्रायः उल्लेख आया है।[५] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि बाजपेय यज्ञ में एक–एक कृष्णल या रत्तिका बांटी जाती थी। अतएव यह अनुमान समीचीन है कि शतमान सिक्के की इकाई यही कृष्णल रहा हो। सौ रत्ती तोल का चांदी का सिक्का १८० ग्रेन तोल में रहा होगा।

शतमान मुद्रा कात्यायन के समय में भी चलती थी। ५/१/२६ सूत्र पर एक वार्तिक में डेढ़ शतमान का स्पष्ट नाम लिया है जैसे–वार्तिक–सुवर्णशतमानयोरूपसंख्यानम्, भाषम–अध्यर्धशतमानम, अध्यर्धशातमानम्। द्विशातमानम्। १ $^1/_2$ या दो शतमान से खरीदी हूयी वस्तु की उक्त संज्ञायें थी।

---

१ रजतं हिरण्यं दक्षिणा नानारूपतया शतमानं भवति शतायुर्वै पुरूष :–शत. १३/२/३/२

२. द्वादश कपालन्निर्वपति भिन्नतन्त्रान, शतमानदक्षिणान्, मध्यमस्य राजतः– का.श्रौ २०/२/६

३. शतमानं दक्षिणा सौवर्णम्,–कात्यायन श्रौतसूत्र २०/१/२२

४. रक्तिका–शतमान,–का०श्रो० १५/६/३०

५ मैत्रायणी संहिता २/२/२, तैत्तिरीय संहिता २/३, २/१

कार्षापण ५/१/२६

प्राचीन भारतवर्ष का सबसे प्रसिद्ध सिक्का चांदी का कार्षापण था। इसे ही मनु स्मृति में धरण और राजतपुराण भी कहा गया है।[1] पाणिनि ने इन सिक्कों को आहत ५/२/१२० कहा है, उसी के अनुसार अंग्रेजी में ये **Punch Marked** पंचमार्क्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सिक्के बुद्ध से भी पुराने है और भारतवर्ष में ओर से छोर तक पाये जाते हैं। अब तक लगभग पचास सहस्र से भी अधिक चांदी के कार्षापण प्राप्त हुये हैं। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में कार्षापण ही प्रचलित सिक्का था पर वहां सर्वत्र इसका संक्षिप्त नाम पण दिया गया है। मनुस्मृति के अनुसार चांदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और तांबे के कर्ष का वजन ८० रत्ती था। उसके बराबर तोल के सोने के सुवर्ण और तांबे के कार्षपण सिक्के की तोल भी ८० रत्ती होती थी।

जहां कार्षापण इतना प्रचलित सिक्का था वहां यह स्वाभाविक है कि उससे सम्बन्ध रखने वाले छोटे सिक्के भी प्रचलित हों। फुटकर सिक्कों की सूची अष्टाध्यायी के अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मिलती है।[2] अष्टाध्यायी में कार्षापण (अपर नाम पण), अर्ध (भाग), पाद त्रिमाष, अध्यर्ध ($१^{१}/_{२}$) माष, माष एवं अर्धमाष का वर्णन है। कात्यायन ने इसमें काकणि एवं अर्धकाकणि नाम और जोड़े हैं।

---

१ द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषक·। –मनु० ८/१३५
ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजतः। –मनु. ८।१३६

२. अर्थशास्त्र २/१२
पणम्, अर्धपणम्, पादम, अष्टभागम् इति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकम्, अर्धमाषकम्, काकणीम्, अर्धकाकणीमिति। अर्थात्–चांदी केसिक्के–पण, अर्धपण, पाद, अष्टभाग, तांबे के सिक्के–माषक, अर्धमाषक, काकणी, अर्धकाकणी। ऐसा प्रतीत होता है कि तांबे के सिक्कों में माषक से ऊपर तांबे का १/४ पण, १/२ पण और पण नामक सिक्के भी थे।

पण ५/१/३४

मनुस्मृति के आधर पर यह अनुमान किया जाता है कि चांदी के सिक्के का पूरा नाम कार्षापण और तांबे के कर्ष का नाम पण रहा होगा।[1] तांबे का कार्षापण जो तोल में एक कर्ष (८० रत्ती) हो पण कहलाता है। पाणिनीय सूत्र पर कात्यायन ने कार्षापण का एक नया नाम 'प्रति' दिया है। एक कार्षापण में मोल ली हुयी अर्थात् प्रति कार्षापण के हिसाब वाली वस्तु को 'प्रतिक' कहने लगे थे। यही कात्यायन के वार्तिक की ध्वनि हैं जिससे 'प्रतिक' पद सिद्ध किया गया है।[2] कार्षापण का 'पण' नाम उसके प्रचलित सिक्का होने की बात को और अधिक पुष्ट करता है।

पादकार्षापण ५/१/३४

चौथाई कार्षापण का नाम 'पाद' था। पणपादमाषशताद्यत् ५/१/३४ में पाद शब्द इसी के लिये प्रयुक्त जान पड़ता है। सूत्र १।३।७२ के भाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है –

कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामह इति।–भाष्य अर्थात मजदूर इसलिये काम करते हैं कि दिन भर की मजदूरी एक पादिक (पावली) हमें मिल जायेगी। इससे ज्ञात होता है कि शुंगकाल में मजदूरों की प्रतिदिन मजदूरी १/४ कार्षापण अर्थात् आठ रत्ती चांदी के बराबर थी।

द्विपदिका और त्रिपदिका प्रयोगों का उदाहरण काशिका ने और भी कई सूत्रों ६/२/६५, ६/३/१०, ६/४/१३० की व्याख्या मे दिया है। ये स्वतन्त्र सिक्के न थे, बल्कि दो और तीन पदों के वाची

---

१. कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः।–मनु० ८।१३६

२ वा– कार्षापणद्वा प्रतिश्च।
भाष्य- कार्षापणाट् टिठन् वक्तव्यो वाच प्रतिरादेशो वक्तव्यः कार्षापणिकः कर्षापणिकी। प्रतिकः प्रतिकी।

है। जैसे—द्विपदिकां दण्डित—दो पाद का जुर्माना हुआ, द्विपदिका व्यवसृजति दो पाद दान में देता है।

सूत्र ५/१/३४ में पण, पाद के बाद माष का जिक्र है। माष चांदी और तांबे का सिक्का था। दोनों के शब्द रूप एक से बनते थे। चांदी का रौप्य माष दो रत्ती और तांबे का पांच रत्ती का होता था।[1] अष्टाध्यायी में माष से छोटे अर्धमाष का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर पण पाद माष शताद्यत् इस सूत्र में अध्यर्ध की अनुवृत्ति से १$^{१}/_{२}$ माष का जिक्र है। इससे अर्धमाष के अस्तित्त्व का भी अनुमान होता है। अर्थशास्त्र में सिक्कों की और तोल की सूची में अर्धमाषक की गणना है।

तांबे में भी कार्षापण या कहापण प्रचलित सिक्का आजकल के पैसे जैसा था। तांबे का भाव तोल में पांच रत्ती होता था। इसके छोटे सिक्के अड्ढमाषक, काकणी, अर्धकाकणी थे।

शाण ५/१/३५

पाणिनि ने शाण सिक्के से क्रीत वस्तुओं के लिये लोक में प्रचलित कई शब्दों का उल्लेख किया है—शाणाद्वा ५/१/३५, द्वित्रिपूर्वादण् च ५/१/३६। जैसे—अध्यर्धशाणम्। अध्यर्धशाण्यम्। द्विशाणम्। त्रिशाणम्, द्विशाणम्, त्रैशाणम द्विशाण्यम् त्रिशाण्यम् महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसमे पञ्चशाणम्—पञ्चशाण्यम् और जोड़े हैं। ये अनेक उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि इस सिक्के का व्यवहार अधिक था। वार्तिककार कात्यायन ने इसी सूत्र पर दो वार्तिक लिखे हैं। ये वार्तिक भी यही आभास देते हैं कि कात्यायन के समय में भी यह सिक्का काफी प्रचलित था जिसके कारण विविध शब्दरूपों का व्यवहार हो गया था। पाणिनि ने परिमाणान्तस्य असंज्ञाशाणयोः ७/३/१७ सूत्र में शाण का उल्लेख किया है जिससे मालूम होता है कि शाण उस

१ द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषक—मनु० ८/१३५

अर्थ में परिमाणवाची शब्द था जिस प्रकार हिरण्यपरिमाणं धने ६/२/५५ या जातरूपेभ्यः परिमाणे ४/३/१५३ में वर्णित सुवर्णादि, अर्थात् शाण निश्चित परिमाण और मूल्य का एक सिक्का था। महाभारत में शाण सिक्के के मूल्य का सबसे निश्चित उल्लेख आया है।[1] सौ रत्ती वाले शतमान में आठ शाण होते थे। इस प्रकार एक शाण का वजन १२$^{१}/_{२}$ रत्ती–२५ ग्रेन हुआ। चरक ने शाण तोल को सुवर्ण या कर्ष का एक चौथाई लिखा है जो २० रत्ती हुआ। सम्भव है शाण तोल को कुछ बढ़ाकर यह नया मान बनाया गया जैसा कि चरक की द्रोणादि तोलों में भी बढ़ाया हुआ मान मिलता है।

अष्टभाग या पदार्थ शतमान का दोगुना अर्थात् द्विशाण के बराबर पाद शतमान सिक्का, उससे बड़ा तीन शाण उससे बड़ा चार शाण का या अर्धशतमान का सिक्का भी प्रचलन में था।

अर्धकार्षापण

पाणिनीय सूत्र ५/१/४८ पूरणार्धट्ठन् में अर्ध शब्द अर्धकार्षापण के लिये प्रयुक्त हुआ है। काशिका में स्पष्ट लिखा है– अर्धशब्दोरूपकार्धस्य रूढिः अर्थात् इस सूत्र में 'अर्धरूपकार्ध' या 'अधेली' की संज्ञा है। रूपकार्ध का तात्पर्य कार्षापण के अर्धभाग से है। जिस काम में आधा कार्षापण सूद, निकासी, मुनाफा, चुंगी या रिश्वत के रूप मे दिया जाय उसे 'अर्धिक' कहते थे। महासुपिन जातक में अर्धकार्षापण के लिये केवल अड्ढ शब्द का व्यवहार हुआ है।[2]

गंगमाल जातक में भी अड्ढ संज्ञा ही है। इससे ज्ञात होता है कि पाणिनि और जातकों के समय अर्ध कार्षापण के लिये केवल 'अड्ढ' शब्द काम में आता था। पाणिनि ने अगले ही सूत्र में अर्ध के लिये भाग शब्द का भी प्रयोग किया है –

---

१. अष्टौ शाणाः शतमान वहन्ति–महाभारत, वन पर्व १३४/१४

२ कहापणड्ढमासकरूपादीनि–जातक १/३४०

भागाद्यच्च ५/१/४६

भाग का अर्थ काशिका में रूपकार्ध दिया है जो अर्ध का ही नामान्तर है।[1] भागिक का भी वही अर्थ था जो अर्धिक का था। कात्यायन ने भी अर्धकार्षापण के लिये अर्ध शब्द का प्रयोग किया है–टिठनर्धाच्च सूत्र ५/१/२५, वा०।

कौटिल्य ने अर्धकार्षापण के लिये अर्धपण शब्द का प्रयोग किया है। उसके वजन १६ रत्ती–२६.२८ ग्रेन था। इस वजन के आस–पास के सिक्के प्राचीन 'अर्ध' के ही नमूने हैं।

सूवर्ण ६/२/५५

सुवर्ण का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी में नही है परन्तु हिरण्यपरिमाणं धने ६/२/५५ सूत्र में हिरण्यपद में सुवर्ण का भी अन्तर्भाव है। सूत्र का अर्थ है कि परिमाणवाची पूर्व पद के बाद धन शब्द उत्तर पद में रहे तो पूर्वपद का अपना प्रकृतिस्वर विकल्प से रहता है। इसका उदाहरण है द्वौ सुवर्णौ परिमाणस्य द्विसुवर्णम्, तदैव धनमिति द्विसुवर्णधनम् अर्थात् दो सुवर्ण सिक्कों की पूंजी। वह पूंजी जिसकी हो उसको भी द्विसुवर्णधनः कहेंगे। हिरण्य और सुवर्ण में अन्तर है। डा० भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि अनगढ़ हुण्ड की संज्ञा हिरण्य थी, उसी को जब सिक्के के रूप में ढाल लेते थे तब वे सुवर्ण कहे जाते थे।[2] कौटिल्य के अनुसर सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थत् ८० गुञ्जा (लगभग १५० ग्रेन) के बराबर होता था। पुराने सुवर्ण तो मिले नहीं हैं परन्तु गुप्त युग के जो सुवर्ण सिक्के प्राप्त होते हैं उनका वजन प्रायः इतना ही मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'हिरण्यसुवर्णम्' पद का अर्थ करते हुये श्री शाम शास्त्री ने हिरण्य का अर्थ पासा bar gold और सुवर्ण का अर्थ सोने का सिक्का Coined gold किया है। जातरूपेभ्यः परिमाणे ४/३/१५३

---

१ भागशव्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचक .–काशिका ५/१/४६

२ प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र आर.एस. शुक्ल पृष्ठ ५१

सूत्र के उदाहरण में काशिका ने हाटकं कार्षापणं (सोने का कार्षापण) यह उदाहरण दिया है। कार्षापण की तोल भी ८० रत्ती के बराबर थी। इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य के सुवर्ण का ही दूसरा नाम 'हाटक कार्षापण' है। जातरूपेभ्यः परिमाणे' सूत्र में भी पाणिनि ने सोने के सिक्कों का ही संकेत किया है। जातरूप से सुवर्ण के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होता है। सुवर्ण का परिमाण व्यक्त करने के लिये आवश्यक था कि सोने के निश्चित परिमाण के टुकड़े हों जिनकी आकृति पर उस परिमाण की निश्चयात्मक छाप हो। यह बात सिक्कों से ही प्रकट हो सकती है। 'हाटकः निष्कः' में हाटक विशेषण का अण् प्रत्यय परिमाण अर्थ का द्योतक है। यह हाटक पद वहीं आ सकता है जहां अगला पद जो हाटक का विकार है, परिमाणवाची हो। स्वर्णपात्र या सोने की बनी छड़ी के लिये हाटकमयम् या हाटकमयी कहना ठीक होगा।

इस प्रकार सुवर्ण के सिक्कों का अस्तित्त्व पाणिनि के समय में ज्ञात होता है। विभाषाकार्षापण सहस्राभ्याम् ५/१/२६ सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन ने कहा है कि सूत्र में सुवर्ण और शतमान का भी ग्रहण करना चाहिये—सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानम्। उससे अध्यर्धसुवर्ण और द्विसुवर्ण जैसे प्रयोगों को सिद्ध किया गया है। पर इतना तो निर्विवाद हो जाता है कि कात्यायन के समय में सुवर्ण नामक सोने के सिक्के का अस्तित्त्व था। कौटिल्य की साक्षी भी ऐसी ही है। पर इस सम्बन्ध में आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि या चाणक्य के समय का अभी तक कोई सिक्का नहीं मिला जबकि उस समय के चांदी के कार्षापण नामक सिक्के पचास हजार के लगभग मिल चुके है।

अष्टाध्यायी के निष्कादि गण ५/१।२० तथा अलग सूत्र ५/१/३४ में भी जो माष शब्द आता है उससे दोनों स्थानों में रौप्य कार्षापण वाले माष का ग्रहण करना चाहिये। पाणिनि ने स्पष्टतः सुवर्ण माष का उल्लेख कहीं नहीं किया है।

पञ्चम-सोपान

पञ्चम-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित तत्कालीन धर्म एवं दर्शन

अष्टाध्यायी में जिस धार्मिक अवस्था का चित्र है, उसका मुख्य आधार यज्ञ विधि और देव पूजा थी। यज्ञ, ऋत्विज्, दक्षिणा एवं देवता और उनकी भक्ति से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री सूत्रों में आ गई है। साथ ही विविध दार्शनिक सम्प्रदाय और भिक्षुओं का भी उल्लेख आया है। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं सब बिन्दुओं पर विचार किया जा रहा है।

यज्ञ

याज्ञिक

यज्ञों का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोगों के सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने किया है। पाणिनि ने भी याज्ञिकों के आम्नाय और धर्म को याज्ञिक्य कहा है। पतञ्जलि ने भी याज्ञिक शास्त्र और याज्ञिकों के वाङ्मय का उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी में जो धार्मिक चित्र है उसमें यज्ञ सम्बन्धी साहित्य एव यज्ञकर्म १/२/३४, ८/२/८८ की पर्याप्त सामग्री पायी जाती है। सुब्रह्मण्या १/२/३६, न्यूङ्ख १/२/३४ और याज्या ८/२/९० उच्चारण के सम्बन्ध में आचार्य ने सूक्ष्म नियमों का उल्लेख किया है।

याज्ञिक साहित्य एक ओर यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विशाल ब्राह्मण और अनुब्राह्मण साहित्य था तो दूसरी ओर क्रतु या सोम यज्ञ एवं दूसरे यज्ञ या इष्टियों के व्याख्यान ग्रन्थ भी बनाये गये थे

४/३/६८/ पुरोडाश सम्बन्धी कुछ पद्धतियो का सूत्र में उल्लेख है। पुरोडाश किस प्रकार बनाया जाय इसकी विधि बताने वाला व्याख्यान ग्रन्थ पुरोडाशिक था। पुरोडाश बनाने में जिन मन्त्रों की आवश्यकता होती थी उनका व्याख्यान ग्रन्थ पौरोडाशिक कहा जाता था ४/३/७। यज्ञो में सम्मिलित होने वाले ऋत्विजों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऐसी सारोद्धारिणी पद्धति की मॉग रहती थी।

यजमान

जब तक यज्ञ की अवधि रहती तब तक के लिये मुख्य कर्ता की संज्ञा यजमान होती थी। यज्ञ की समाप्ति पर वह अपने उस यजन के अधिकार से यज्वा ३/२/१०३ कहलाता था। विशिष्ट यज्ञों के आधार पर उसके लिये अग्निष्टोमयाजी आदि विशेषण प्रयुक्त होते थे। ३/२/८५/ जो व्यक्ति बार–बार यज्ञ करता और जिसका स्वभाव ही यजनशील बन जाता था उसके लिये भाषा में यायजूक शब्द था–इज्याशीलो यायजूकः। यज्ञ काल में यजमान वाक् संयम का व्रत रखने के कारण ही वाचं यम–वाचि यमो व्रते ३/२/४० एवं स्थाण्डिल पर शयन करने के कारण स्थाण्डिल– स्थण्डिलाच्छायितरि व्रते ४/२/१५ कहलाता था। यजमान का अन्तेवासी या पुत्र जब यज्ञ कर्म करने के योग्य वय प्राप्त करता तो वह अलंकर्मीण कहा जाता– अलंकर्मणो अलंकर्मीणः। उस समय वह अपने पिता या गुरु के समीप बैठकर आहुति डालने में उसकी सहायता करता था। अलंकर्म में कर्म शब्द का सामयिक अर्थ यज्ञ था जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख आया है यज्ञो वै कर्म १/१/२/१

आस्पद

ब्राह्मणों में सामाजिक प्रतिष्ठा आस्पद कहलाती थी– आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ६/१/१४६। यज्ञों के आधार पर आस्पदों की प्रसिद्धि होती थी जैसे–बाजपेयी, अग्निहोत्री आदि। जो श्रोताग्नियों का आधान करके उनकी

परिचर्या करता था उसे आहिताग्नि कहते थे, वाऽऽहिताग्न्यादिषु २/२/३७। आवसथ अग्नि के लिये निर्मित स्थान में निवास करने वाला व्यक्ति आवसथिक कहलाता था। आवसथात् ष्ठल् ४/४/७४, आवसथे वसति आवसथिकः, आवसथिकी। ब्राह्मणों का अवस्थी आस्पद इसी से बना है। यज्ञ भूमि में यजमान के लिये जो स्थान बनाया जाता था वह आवसथ कहलाता था क्योंकि आवसथ अग्नि की स्थापना वहीं की जाती थी। यज्ञ के दिनों में यजमान को वहीं रहना आवश्यक था। इसे ही अग्नि शरण भी कहते थे।

यज्ञाख्या ५/१/६५

यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति यज् धातु से की जाती थी यज् + नङ्। पाणिनि ने इज्या शब्द का भी प्रयोग किया है। यजुर्वेद में यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ तीन प्रकार के थे–इष्टि, पशुबन्ध और सोम। इष्टि जैसे दर्श पौर्णमास में स्वाहा कहकर और बैठकर आहुति दी जाती है। पशुबन्ध और सोमयज्ञों मे आहुति खड़े होकर और वौषट् बोलकर डाली जाती थी। एक सूत्र में यजुर्वेद के क्रतुओं का उल्लेख है–'अध्वर्यु क्रतुरनपुंसकम् २/४/४ जैसे अर्काश्वमेध , सायाह्नातिरात्र (काशिका) क्रतुयज्ञेभ्यश्च ४/३/६८ सूत्र में क्रतु और यज्ञों में अन्तर बताया गया है। यज्ञ व्यापक शब्द था। इसके अन्तर्गत दर्श पौर्णमास जैसी इष्टियां, पाक यज्ञ और नवयज्ञ जैसे साधारण होम पञ्चौदन और सप्तौदन जैसे विशिष्ट स्थालीपाक एवं अग्निष्टोम, राजसूय और बाजपेय जैसे क्रतु भी थे। किन्तु क्रतु शब्द केवल सोमयज्ञों के लिये ही प्रयुक्त होता था (क्रतु शब्दः सोमयज्ञेषु रुढः–काशिका २/४/४) क्रतुओं में सोम की आहुति दी जाती थी। क्रतु दो प्रकार के होते है, एक अहीन कहलाते हैं जो एक दिन से ग्यारह दिन तक चलने वाले सोमयाग हैं, और दूसरे सत्र जो बाहर दिन से वर्ष, दो वर्ष, सौ वर्ष या सहस्र वर्ष तक चलते हैं। ४/४/४२ पर एक वार्तिक द्वारा क्रतु के अर्थ में अहीन शब्द सिद्ध किया गया है– अह्नः खः क्रतौ एवं

६/४/१४५ अह्नां समूहः क्रतुः अहीनः। दिनों की अवधि के अनुसार अहीन यज्ञ एकाह, दशाह आदि कहलाते थे।[1] अग्निष्टोम, वाजपेय और राजसूय क्रतु हैं पर सत्र नहीं। अग्निष्टोम और वाजपेय एक–एक दिन के यज्ञ हैं जिनके पहले चार दिन की पूर्वा विधि की जाती थी। राजसूय चार दिन का यज्ञ है। कभी–कभी सोमयाग का नाम दिनों की संख्या और यजमान के नाम से पड़ जाता था जैसे–गर्ग त्रिरात्र (गर्ग कुल में तीन दिन का सोमयाग), इसी प्रकार चरक त्रिरात्र, कसुरबिन्दु सप्तरात्र– द्विगौ क्रतौ ६/२/६७।

विशेष यज्ञों में पाणिनि ने अग्निष्टोम ८/३/८२ ज्योतिष्टोम और आयुष्टोम ८/३/८३ का उल्लेख किया है। आयुष्टोम और ज्योतिष्टोम मिलकर अभिप्लव विधि होती है। अग्निष्टोम में तीन सवन और द्वादश स्तोत्र होते हैं।

पाणिनि ने दीर्घसत्र यज्ञों का भी उल्लेख किया है जो सौ या सहस्र वर्ष के दीर्घ काल तक चलते थे–७/३/१ ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे यज्ञों का वर्णन है जैसे–विश्वस्टज् जो कि सहस्रसंवत्सर था। पतञ्जलि ने लिखा है कि ऐसे दीर्घकालीन सत्र लोक में वस्तुतः कोई करता नहीं था। ऐसे यज्ञ केवल याज्ञिक लोगों के सम्प्रदाय में विदित थे।

सोम

सोम अभिषव सुत्या कहलाता था ३/३/९९। अभिषव करने वाले को सोमसुत् कहते थे। ३/२/९०/ जिस यजमान ने सोम का अभिषव किया होता वह यज्ञ हो जाने पर सुत्वा इस विरुद से प्रसिद्ध होता था ३/२/१०३ जैसे यज्ञ कर्ता के लिये यज्वा था। सोमपान करना कुछ आर्थिक सुविधा और आध्यात्मिक तैयारी पर निर्भर था। जिसमें सोमपान करने की इस प्रकार की योग्यता या अर्हता हो वह सोम्य कहलाता था। याज्ञिक लोग कहते थे कि जिसके कुल में दस पीढ़ी पहले तक आचार

१ काशिका ५/१/९५

पर कोई आँच न आई हो वह सोमपान का अधिकारी होता है।[1] मनु का दृष्टिकोण आर्थिक योग्यता से है—जिसके घर में तीन वर्ष या उससे अधिक के लिये पर्याप्त अन्न हो वह सोम पीने की योग्यता रखता है।[2] सोम यज्ञ में यद्यपि ऋत्विक् सोम कूटने—पीसने—छानने की क्रिया करता, पर यजमान को ही प्रधान कर्ता होने के नाते उसका फल प्राप्त होता था। वह यजमान सुन्वन् कहलाता था—सुञो यज्ञ संयोगे ३/२/१३२/ वारह दिन या उससे अधिक के सोम सत्र में ऋत्विजों की संख्या सत्रह से पचीस तक होती थी। उनमें सभी यजमान होते थे, सभी ऋत्विज भी थे, सब का आहिताग्नि होना आवश्यक था, सब को यज्ञ के पुण्य फल में समान भाग प्राप्त होता था, कोई न दक्षिणा देता था और न पाने की आशा करता था एवं सभी मिलकर सोम का सेवन करते थे, इसी स्थिति का सूचक यह वाक्य था—सर्वे सुन्वन्तः सर्वे यजमानाः सत्रिणः उच्यन्ते—काशिका ३/२/१३२।

अग्नाख्या ३/२/६२

जो अग्नि आहुति को देवों के समीप ले जाता है उसकी संज्ञा हव्यवाहन—हव्येऽनन्तः पादम् ३/२/६६ और जो पितरों के पास ले जाता है उसकी संज्ञा कव्यवाहन—कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् ३/२/६५। हव्य वाहन अग्नि को स्वाहा और कव्य वाहन को स्वधा कह कर आहुति दी जाती है। श्रौत यज्ञों के लिये उपयुक्त अग्नि चित्याग्नि ३/१/१३२ होती थी। तीन श्रौताग्नियों में गार्हपत्य गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः ४/४/९०, गृहपतिना संयुक्तः गार्हपत्योग्निः और दक्षिणाग्नि का उल्लेख सूत्रों मे है। दक्षिणाग्नि का विशिष्ट नाम आनाय्य था क्योंकि उसे गार्हपत्य अग्नि में से लाते थे और कर्म हो जाने के बाद फिर उसकी रक्षा या आधान नहीं किया जाता था—आनाय्योऽनित्ये ३/१/१२७, भाष्य, आनाय्यो दक्षिणाग्निति वक्तव्यम्।

---

१ एव हि याज्ञिकाः पठन्ति दश पुरुषानूक यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिवेदिति, भाष्य ४/१/६३।

२ यस्य त्रैवार्षिकं धान्यं निहितं भृत्यवृत्तये, अधिकं वापि विद्यते स सोमं पातुमर्हति—मनु ११/७, (काशिका ७/३/१६

आनाय्य शब्द कुछ विशेष प्रकार का है। श्रौत यज्ञ की अग्नि अरणी मन्थन से उत्पन्न की जाती थी। उत्पन्न होने पर उसे आहिताग्नि यजमान गार्हपत्य नामक वेदी में गार्हपत्य अग्नि के रुप मे सुरक्षित रखता था। दो वेदियां और थी, आहवनीय और दक्षिणाग्नि। यजमान अपनी गार्हपत्य वेदी में से अग्नि ले जाकर उन दोनों वेदियों में डालता था, इसी लिये दोनों उस काल विशेष के लिये ही पृथक् प्रज्वलित होने के कारण अनित्य कहलाती थी। जैसे ही आहुतियाँ समाप्त हो जातीं, वे दोनों पवित्र अग्नियां न रह जाती थी, किन्तु गार्हपत्य सदा रक्षा के योग्य थी। ऐसी भी प्रथा थी कि गार्हपत्य अग्नि में से दक्षिणाग्नि के लिये अग्नि न लेकर भड़भूजे के भाड़ से (भ्राष्ट्र), वैश्यकुल में जो प्रज्वलित अग्नि हो उससे, या किसी ऐसी नयी जगह से भी ले सकते थे जहाँ अभी श्रौताग्नि की विधिवत् स्थापना न हुई हो। ऐसी पृष्ठभूमि में आनाय्य संज्ञा केवल दक्षिणाग्नि के लिये प्रयुक्त होती थी—आनाय्यो दक्षिणाग्नेः रुढिरेषा, —काशिका ३/२/६२

वेदियाँ

वेदि में अग्नि प्रज्वलित करने की तीन अवस्थाओं के लिये तीन शब्द भाषा में थे— परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य। आरम्भ में समिधाओं को विधि पूर्वक चुनकर और वेदि को सजाकर जो अग्नि जलाई जाती थी वह परिचाय्य अवस्था हुई।[१] यह उसकी अलंकरण की दशा थी। बीच में जब वह खूब दहक जाती तो उसे उपचाय्य कहते थे, अन्त में उसे इधर—उधर बिखरी अवस्था में बटोरकर राख, कचरा आदि का ढेर लगा देना, यह उसकी समूह्य अवस्था थी। इसी के लिये समूह्य पुरीष, यह सार्थक शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था।[२]

दर्श पौर्णमास की वेदि ३६ वितस्ति लम्बी और १८ वितरित्त चौड़ी कही गई है (२७ फुट×१३½ फुट)। इससे दुगुनी एवं तिगुनी नाप की क्रमशः द्विरतावा एवं त्रिस्तावा कहलाती थी।[३]

१. परिचाय्यं चिन्वीत ग्राम काम—शतपथ ५/४/११/१

२. शतपथ ६/७/२/८, कात्यायन श्रौ० १६/५/६—१०

३. द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः, ५/४/८४।

वेदि की इस भूमि पर भिन्न–भिन्न वेदियाँ या हवनकुण्ड बनाये जाते थे, प्रत्येक की अपनी आकृति होती थी। उनका उल्लेख कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ३/२/६२ सूत्र में किया गया है जैसे श्येनचित्, कङ्कचित् (काशिका) उभयतः प्रउगचित् (दोहरे त्रिकोण की या डमरु की आकृति)[1] यह सब विशिष्ट प्रकार का अग्नि चयन था जिसे अग्निचित्या कहा जाता था ३/१/१३२। वेदियों के निर्माण में जिन–जिन मन्त्रों से इष्टकाचिति की जाती थी, उन मन्त्रों से उन इष्टिकाओं का नाम पड़ जाता था ४/४/१२५, मन्त्र में जो महत्वपूर्ण शब्द होता उसे प्रतीक मानकर इष्टका का नाम रखा जाता था। जैसे–वर्चस्या, तेजस्या, रेतस्या, पयस्या ये इष्टिकाओं के प्राचीन नाम थे। जो इस प्रकार की अग्नियों का चयन करता था अग्निचित् कहा जाता था। ३/२/६१

यज्ञार्थ उपकरण

इनमें से कुछ का प्रासंगिक उल्लेख सूत्रों में आ गया है। सोम क्रतुओं में जिस स्थान पर बैठकर छन्दोग या सामगान करने वाले ऋत्विज् सामगान करते थे वह स्थान संस्ताव कहा गया है। अमरकोश में इसे स्तुति भूमि लिखा है। कूड़ा–कचरा फेंकने का स्थान अवस्कर कहलाता था ४/३/२८ कुश या दर्भ की संज्ञा पवित्र थी–पुवः संज्ञायाम् ३/२/१८५। सोमयाग में सोम नामक ओषधि की आवश्यकता पड़ती थी। पतञ्जलि ने पूतीक या कुशा को सोम का प्रतिनिधि लिखा है, साथ ही कहा कि इससे यह न समझना चाहिये कि सोम गई–बीती वस्तु हो गई।[2]

यज्ञ पात्र १/३/६४

सोम पीने के पात्र या सोम ग्रहों का जोड़ा रखा जाता था। द्वन्द्व शब्द का एक अर्थ यज्ञ पात्र प्रयोग भी है ८/१/१५। सूत्र में शुल्लक वैश्वदेव और महावैश्वदेव नामक ग्रहों का उल्लेख आया है–क्षुल्लकश्च

१. कात्यायन श्रौत सूत्र १६/५/६।
२. न च तत्र सोमो भूत पूर्वो भवति भाष्य–१/३/५६।

वैश्वदेवे ६/२/३६। आहुति द्रव्य हवि था। उसी का एक विशेष रुप सांनाय्य कहलाता था ३/१/१२६। यह दर्श नामक इष्टि में इन्द्र देवता के उद्देश्य से दी जाने वाली हवि थी। इष्टि से पहली सायंकाल का जो गाय का दूध दुहा जाता था (सायंदोह) उसका दही जमा लिया जाता था। अगले दिन उस दही में प्रातः काल का दुहा हुआ दूध (प्रातर्दोह) मिलाकर सांनाय्य हवि बनती थी। सम् + नी = सानना, मिलाना।[1]

ऋत्विक्

यज्ञ के सब पुरोहित ऋत्विज कहलाते थे ३/२/५६। ऋत्विक् कर्मों के कराने में दक्ष कर्म कर्ता आर्त्विजीन कहलाते थे।[2] पतञ्जलि ने आर्त्विजीनं ब्राह्मण कुलम् लिखा है। स्पष्ट है कि वैदिक युग से ही ब्राह्मण लोग बड़े परिश्रम से ऋत्विक् कर्म में निपुणता उपार्जित करते आये थे। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञों में प्रयुक्त वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे। आर्त्विजीन वह माना जाता था जो यज्ञ मन्त्रों का पद, स्वर और अक्षर के अनुसार शुद्ध स्फुट उच्चारण कर सके। यजमान के लिये विविध प्रकार के यज्ञ कर्म करने के कारण ऋत्विक् को याजक कहा जाता था। जिस जाति का यजमान हो उसके साथ याजक शब्द जोड़कर भाषा में शब्द बनते थे, जैसे– ब्राह्मण याजक, क्षत्रिय याजक आदि–याजकादिभिश्च २/२/६।

विशेषज्ञ

जो जिस यज्ञ या विधि में विशेष निपुणता प्राप्त करता था, उसे उसी के लिये आमन्त्रित करते थे। जो सोम क्रतुओं का विशेष अध्ययन

---

१ दर्श–इष्टि में तीन आहुतियां होती हैं–पहली अग्नि के लिये आग्नेय पुरोडाश की, दूसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र दधि की तीसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र पय या दूध की आहुति। दूसरी और तीसरी को साथ मिलाने से सानाय्य हवि बनती थी। इसमें उद्दिष्ट देवता तो एक था पर भिन्न आहुति द्रव्यों को एक मे साथ मिलाकर साथ ही हवि दी जाती थी। पहले जुहू में दही भरकर, उसके ऊपर दूध छोडने से सांनाय्य हवि बनती थी।

२ ५/१/१७१ सूत्र पर वा० ऋत्विक् कर्मार्हति।

करते थे वे आग्निष्टोमिक, बाजपेयिक, राजसूयिक आदि कहलाते थे। स्वाभाविक था कि इतने बड़े यज्ञो का दायित्व लेने के लिये इन विशेषज्ञो को ही आमन्त्रित किया जाता। वे अपने पुत्र और शिष्य वर्ग के साथ इन यज्ञों में सम्मिलित होते थे। जिस प्रकार यजमान पुत्र अपने पिता की सहायता करता था वैसे ही ऋत्विक् पुत्र भी करते थे और वे अलंकर्मीण कहलाते थे।[1] इसीलिये भाषा में ऋत्विक् पुत्र एवं होतुः पुत्र जैसे शब्दों की अलग आकांक्षा हुई। ६/२/१३३।

ऋत्विक् संख्या

ब्राह्मणों के अनुसार ऋत्विजों की संख्या सोलह थी। उनके चार वर्ग थे।[2] ऋग्वेद के ऋत्विजों में पाणिनि ने होता, प्रशास्ता ६/४/११ और ग्रावस्तुत् ३/२/१७७ का उल्लेख किया है। प्रशास्ता को मैत्रावरुण भी कहते थे। होता याज्या और अनुवाक्या मन्त्रों का पाठ करता था। ग्रावस्तुत् ऋत्विज् सोम का अभिषव करते समय सिल बट्टों की स्तुति के मन्त्र पढता था।

सामवेद के ऋत्विजों में उद्गाता ५/१/१२६ और उसके सहायक प्रतिहर्ता का (गण पाठ में) उल्लेख है।

यज्ञ में अध्वर्यु का पद महत्वपूर्ण था। यजुर्वेद को अध्वर्युवेद कहा जाता था। जैसे–जैसे यज्ञों के कर्मकाण्ड की अभिवृद्धि हुई अध्वर्यु ऋत्विजों के भेद बढ़ने लगे। इसमें दो हेतु थे। एक तो देश भेद से अध्वर्युओं की ख्याति हुई जैसे–प्राच्याध्वर्यु अर्थात् प्राच्य देश का अध्वर्यु। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण वैदिक शाखाओं के भेद से कर्मकाण्ड में भेद पड़ जाना था। इसके प्रमाण ब्राह्मण और श्रौत सूत्रों में दिखाई देते हैं।

---

१. यदस्य पुत्रो वान्तेवासी बालंकर्मीणः स्यात्–बौ० श्रौ० २२/२०

२ (क) ऋग्वेद–होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्।
(ख) यजुर्वेद– अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता।
(ग) सामवेद– उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य।
(घ) अर्थवेद– ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्, पोता।

अथर्ववेद के ऋत्विजों में पाणिनि ने ब्रह्मा ५/१/१३६, अग्नीध ८/२/९२ और पोता ६/४/११ का उल्लेख किया है। ऋग्वेद में ही ब्रह्मा का महत्व और ऋत्विजों की अपेक्षा विशेष माना जाने लगा था, उसे सुविप्र कहा गया है। ब्रह्मा चारों वेदों का और यज्ञ के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का अधिष्ठाता होता था, यही उसकी विशेषता थी। कालान्तर में जो महाब्रह्मा पद सबसे विशिष्ट विद्वान् के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा उसकी पृष्ठभूमि यही थी।

ऋत्विजों के पृथक् कर्म

यज्ञ में सोलह ऋत्विजों का कर्म एक दूसरे के साथ सहयोग पर आश्रित था। उनमें से प्रत्येक के कर्म और भाव को प्रकट करने के लिये भाषा में अलग–अलग शब्द थे। ये नाम ऋत्विजों के नामों में प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते थे। होत्राभ्यश्छः ५/१/१३५ सूत्र में इसका विधान किया गया है होत्रा शब्द ऋत्विग्विशेष वचनः – काशिका। जिस तरह आच्छावाकीय (आच्छावाकस्प भावः कर्म वा) मित्रावरुणीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, अग्नीघ्र, प्रतिपस्थात्रीय उद्गाता का काम औद्गात्र ५/१/१२६ और अध्वर्यु का आध्वर्यय ४/३/१२३ कहलाता था। ब्रह्मा का कर्म या भाव ब्रह्मत्व कहा जाता था–ब्राह्मणस्तवः ५/१/१३६।

मन्त्रकरण

यज्ञ में देवताओं का आवाहन करने के लिये निश्चित मन्त्रों का पढ़ना मन्त्रकरण कहलाता था–उपान्मन्त्रकरणे १/३/२५। इसके लिये भाषा में विशेष प्रयोग ही चल गये थे जैसे–आग्नेय्याऽऽग्नीघ्रमुपतिष्ठते (आग्नेयी ऋचा के पाठ से आग्नीय ऋत्विज का उपस्थान करता है) मन्त्रों का स्फुट स्वर वर्ण के साथ उच्चारण समुच्चारण कहा जाता था। १/३/४८। देवावाहन निहव या अभिहव कहलाता था।

उपयज्

यजुर्वेद ६/२१ मे ग्यारह छोटे मन्त्र भाग हैं–समुद्रं गच्छ। स्वाहा इत्यादि–उन्हें उपयज् कहा जाता है–विजुपे छन्दसि ३/२/७३।

दक्षिणा

यज्ञ में कर्म करने वाले ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती थी। उसके विभाग के विषय में कुछ नियम धर्म शास्त्र ग्रन्थों में दिये हैं। जिस यज्ञ की दक्षिणा होती थी उसी के नाम से दक्षिणा का नाम पड़ता था (तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः ५/१/६५) यथा–राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम यज्ञों की दक्षिणा राजसूयिकी, वाजपेयिकी, आग्निष्टोमिकी कहलाती थी। ज्ञात होता है कि प्रत्येक की न्यूनतम मात्रा लोक–व्यवहार में निर्धारित थी। जो ब्राह्मण योग्यता के कारण दक्षिणा का पात्र होता था उसे दक्षिण्य कहा जाता था –(दक्षिणामर्हति दक्षिण्यो ब्राह्मण.)।

स्रौव सम्बन्ध

ऋत्विज् और यजमान के बीच का सम्बन्ध गुरू–शिष्य या पिता–पुत्र जैसा ही घनिष्ठ माना जाता था। पतञ्जलि ने उसे स्रौव सम्बन्ध कहा है।[1] पतञ्जलि ने लाल पगड़ी बाँधने वाले ऋत्विजों का उल्लेख किया है। लाट्यायन श्रौत सूत्र एवं कात्यायन श्रौत २२/३/१५ से ज्ञात होता है कि वे व्रात्यों के ऋत्विज थे।

---

१ लोके बहवोऽभि सम्बन्धा आर्था यौना मौखा· स्रौवाश्च–१/१/४६ वा० ४–भाष्य

देवता

देवता-पाणिनीय सूत्रों में निम्नलिखित वैदिक देवाताओं का उल्लेख मिलता है। —सूर्य ३/१/११४, अग्नि ४/१/३७, इन्द्र ४/१/३७, वरुण ४/१/३७, भव ४/१/३७, शर्व ४/१/३७, रुद्र ४/१/३७, रुद्र ४/१/३७, वृषाकपि ४/१/३७, मृड ४/१/४६ अपांनप्तृ ४/२/२७, महेन्द्र ४/२/२६, सोम ४/२/३०, वायु ४/२/३१, नासत्य ६/३/७५, त्वष्टा ६/४/११, अर्यमा ६/४/१२। पाणिनि ने नासत्य की व्युत्पत्ति न असत्यौ मानी है। इस विषय में प्राचीन काल में दो मत थे।[1] प्रजापति देवता को क कहा गया है—कस्येत् ४/२/२५। पतञ्जलि ने लिखा है कि क सर्वनाम न होकर देवता की संज्ञा है— संज्ञा चैषा तत्रभवतः। वास्तोष्पति और गृहमेध देवताओं का भी उल्लेख है। वास्तोष्पति तो ऋग्वेद कालीन देवता था किन्तु गृहमेध गृह्यसूत्रों के समय से नया देवता माना जाने लगा। गृहमेध है देवता जिसका ऐसा पुरोडाश, हवि या कर्म गृहमेधीय—गृहमेध्य कहा जाता था। गृह्य सूत्रों के युग में महेन्द्र और इन्द्र में भेद माना जाने लगा। गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार पूर्व दिशा का देवता इन्द्र और उत्तर—पूर्व या ईशान कोण का महेन्द्र कहा जाता था ४/७/२६—३३। अपांनप्तृ अग्नि का नाम था, जिसे देवता मानकर विशेष हवि अर्पित की जाती थी।

कुछ देवता द्वन्द्व ६/३/२६ या जुड़वॉ देवताओं के नाम भी हैं जैसे—अग्नीषोम ४/२/३२, द्यावा पृथ्वी ४/२/३२, शुनासीर ४/२/३२, अग्नीवरुण ६/३/२७।

देवता द्वन्द्वे च ६/३/२६ मे उन्हीं देवताओं का जोडा लिया गया है जिनका वेद में साहचर्य प्रसिद्ध था और जिनकी लोक में भी एक साथ मान्यता थी। विशुद्ध लौकिक देवताओं का ग्रहणं वहाँ नही किया गया, किन्तु वैदिक देवताओ के नमूने पर लोक में भी नये—नये देवताओं के युग्म अस्तित्त्व में आ रहे थे। इन देवताओं की एक साथ पूजा की जाती थी

जैसे— ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, सकर्षणवासुदेवौ। इस प्रकार जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, उन्हें 'अभिव्यक्त' कहा गया है। द्वन्द्व शब्द से उनका भी ग्रहण होता था।

उत्तरकालीन देवता

पार्वती या अम्बिका के चार रुपों का उल्लेख है—भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी ४/१/४६/ विशेषतः सूत्र युग में इनकी मान्यता थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र, भव, शर्व अग्नि के रुप हैं, जिनमें से शर्व प्राच्य देश में और भव वाहीक देश में लोकप्रिय था।[1] सम्भव है कि शर्वाणी और भवानी नाम भी इसी प्रकार देश भेद से प्रचलित हों। इसी प्रकार रुद्राणी और मृडानी भी स्थानीय नाम हो सकते हैं।

सूत्र ४/१/८५ में जिस आदित्य का उल्लेख है, वह वैदिक आदित्य देवता की अपेक्षा सूत्र युग के देवता ज्ञात होते हैं। वस्तुतः पाणिनि काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यातव्य है, वह यह है कि कालवाची शब्दों से अभिहित नये देवताओं की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। कालेभ्यो भववत् ४/२/३४ सूत्र में सास्य देवता प्रकरण के अन्तर्गत अनेक कालवाची शब्दों को देवता माना गया है जैसे वह स्थालीपाक हवि जिसका मास देवता हो मासिक कहलाती थी (मासो देवताऽस्य मासिकं हविः)। इसी प्रकार अर्धमास देवता की हवि आर्धमासिक, संवत्सर की सांवत्सरिक, वसन्त ऋतु की वासन्तिक इौर प्रावृष ऋतु की प्रावृषेण्य कही जाती थी। इस प्रकार मास, ऋतु, संवत्सर सभी को देवताओं का नया पद प्राप्त हुआ और लोक में उनकी पूजा वेग से चली। ४/२/३१ सूत्र में स्वयं आचार्य ने ही ऋतु को देवता कहा है—ऋतुः देवताऽस्य ऋतव्यं हविः वायवृतु पित्रुषसोर्यत् ४/२/३१। देवत्व प्रदान की यह नूतन पद्धति यहाँ तक बढ़ी कि जितने नक्षत्र थे वे भी देवता मान लिये गये।

---

१. शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति यथा बाहीकाः— शत० १/७/३/८

भक्ति

देवताओं के विषय मे उपरिलिखित दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है। यह भक्ति प्रधान दृष्टिकोण था। वरुणदत्त, अर्यमदत्त जैसे नाम जो ५/३/८४ सूत्र में आये हैं इससे ज्ञात होता है कि वरुण और अर्यमा देवताओ को भक्ति से प्रसन्न करके माता–पिता उनकी कृपा से पुत्र लाभ में विश्वास करते थे। पाणिनि ने इस प्रकार की लोक भावना की व्यख्या करते हुये लिखा है कि नामों के अन्त में उत्तर पद देवता के आशीर्वाद का सूचक समझा जाता था–कारकादत्त श्रुतयोरेवाशिषि ६/२/१४८। मनुष्य का नाम उस आशीर्वाद का जीता– जागता प्रतीक होता था।

पाणिनि के युग में भक्ति धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञों में जो पुरातन काल की आस्था थी, उसके साथ–साथ एक प्रतिद्वन्द्वी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेष देवताओं की भक्ति या विश्वास था जिससे देवता को प्रसन्न करके उसका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति धर्म की स्वीकृति का फल कई प्रकार से देखने में आया। प्रथमतः लोक धर्म में जो सैकड़ों प्रकार के छोटे–मोटे देवता थे, उन सब की पद–प्रतिष्ठा बढी और उनके लिये त्रैवर्णिक समाज में द्वार उन्मुक्त हो गया। फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लोक में प्रचलन में थी उसे सार्वजनिक मान्यता मिल गयी।

भक्ति धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा के ढंग पर हुआ। यज्ञ विधि का अपना अलग मार्ग था। उसमें फल–फूल, धूप, दीप, नैवेद्य, पत्र, पुष्प, वाद्य, नृत्य, गीत, बलि आदि की प्रथा न थी, किन्तु लोक में यज्ञादि देवों की जो पूजा थी उसका स्वरुप ठीक इन्हीं वस्तुओं से निर्मित होता था। जो देवता की भक्ति करते थे, वे इसी प्रकार की पूजा चढाते थे।

मूर्तियां

मूर्तियों को जिनमें देवमूर्तियां भी सम्मिलित हैं, प्रतिकृति कहा गया है ५/३/९६। इसी अर्थ में 'अर्चा' इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है ५/२/१०१। मूर्ति रखने वाला पुजारी 'अर्चावान्' या 'आर्च' कहलाता था।

'जीविकार्थे चापण्ये' ५/३/९९ सूत्र देवमूर्तियों के वाचक शब्दों के नामों की सिद्धि के लिये है– जो मूर्ति जीविका के लिये हो और बिक्री के लिये न हो तो उसके वाचक शब्द से 'क' प्रत्यय नहीं लगता। इस संबन्ध में कई विचार सम्भव है जिनसे सूत्र और भाष्य की पृष्ठभूमि का संकेत मिलता है।

१. कुछ मूर्तियां ऐसी थी जो सार्वजनिक रुप से प्रासाद में अथवा खुले चत्वरों पर स्थापित होती थीं, उन पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व न था अतएव वे किसी की जीविका का साधन न थीं और न बिक्री के लिये पण्य रुप में ही थीं, वे केवल पूजार्थ होती थीं।

२. दूसरे प्रकार की मूर्तियां देवलक या पुजारियों के अधिकार में होती थीं। या तो वे एक स्थान पर रखी जाती थीं या देवलक उन्हें स्थान–स्थान पर ले जाकर पूजा चढ़वाते थे। ऐसी सचल एवं अचल मूर्तियां पूजार्थ और देवलकों के जीविकार्थ होती थीं किन्तु बिक्री के लिये न होने से अपण्य थीं। ये पाणिनीय सूत्रान्तर्गत आती हैं जबकि पहली प्रकार की नहीं आतीं। पाणिनीय सूत्रान्तर्गत आने के कारण इसमें कन् प्रत्यय का लोप करके इन्हें शिव–स्कन्द आदि नामों से अभिहित किया जाता था।

३. तीसरे प्रकार की मूर्तियां वे थी जो दुकानों में बिक्री के लिये रखी जाती थी, वे पूजा के लिये नही थीं परन्तु अपने स्वामी

दुकानदारों की जीविका का साधन अवश्य थीं। ऐसी पण्य मूर्तियां पाणिनीय सूत्र का प्रत्युदाहरण हैं, उन्हें 'शिवक', 'स्कन्दक' आदि कहा जाता था।

४. पतञ्जलि ने एक नयी समस्या खडी कर दी कि उस प्रकार की मूर्तियों का नामकरण किस प्रकार से किया जाये जिन्हें मौर्य राजाओं ने रुपये के लोभ से बनवाया था, जो पण्य भी थीं, जीविका का साधन भी एवं पूजार्थ भी।[1] मौर्यों ने वास्तव में ऐसी मूर्तियों का निर्माण करवाया जिनसे वे पैसा इकट्ठा करना चाहते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि—आजीवेत् हिरण्योपहारेण कोशं कुर्यात्। देवताओं के चैत्यों में उत्सव

और मेले करावे और नाग मूर्तियां अपने फनों की संख्या घटा—बढ़ा लेती हैं, इस प्रकार की चामत्कारिक बात फैलाकर देवताध्यक्ष को देवमूर्तियों के द्वारा सोना एकत्रित करके खजाना भरना चाहिये। इससे सूचित होता है कि इस प्रकार की मूर्तियां जीविका, पण्य और पूजा तीनों बातों के लिये थीं। प्रश्न उठता है कि उनका नामकरण शिव किया जाय या शिवक। पतञ्जलि ने यह समाधान दिया कि ऐसी मूर्तियों के लिये पाणिनीय सूत्र नहीं हैं। और यद्यपि वे पूजा और जीविका के लिये थीं, उन्हें शिव और स्कन्द कहना कठिन था।

५. अन्त में पतञ्जलि का कथन है कि मौर्य राजाओं की उन मूर्तियों की बात जो पण्य और जीविका दोनों के लिये थीं छोड़ दें, पर इस समय पूजा में जो मूर्तियां पधरायी हुई हैं और जिनसे देवलकों की जीविका चलती है किन्तु जो पण्य नहीं है उनमें पाणिनीय सूत्र प्रयुक्त होगा और वे शिव, स्कन्द कही जायेंगी, शिवक नहीं।

---

१ अपण्य इत्युच्यते तत्रेद न सिद्ध्यति 'शिवः' 'स्कन्दः' 'विशाखः' इति किं कारणम्। मौर्याहिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्, यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति भाष्य ५/३/९९।

असुर

सूत्रों में देव वैरी असुरों के भी कुछ नाम आये हैं जैसे— दैत्यमाता दिति ४/१/८५, सर्पमाता कद्रू ४/१/७१, असुर ४/४/१२३, राक्षस ४/४/१२१, यातु ४/४/१२१/ कुसित की स्त्री कुसितायी एक राक्षसी थी जिसका उल्लेख मैत्रायणी संहिता में ३/२/६ आया है। राहु और चन्द्रमा की कथा का संकेत विधुन्तुद शब्द ३/२/३५ में है।

धार्मिक विश्वास

धार्मिक जीवन में चान्द्रायण आदि व्रतों का समावेश हो चुका था। जिसने अपने जीवन में चान्द्रायण व्रत किया हो वह चान्द्रायणिक नाम से प्रसिद्ध होता था—चान्द्रायणं वर्तयति ५/१/७२। जो व्यक्ति स्थण्डिल पर शयन करने का व्रत ले वह स्थाण्डिल कहलाता था —स्थण्डिलाच्छायितरि व्रते ४/२/१५। पारायण करते समय अथवा यज्ञ के समय वेदि के स्थण्डिल पर ऐसा व्रत किया जाता था। उस अवसर पर मौन व्रत का भी आश्रय लेते थे अथवा मन्त्र या जप के समय अन्य शब्दों का उच्चारण न करते थे—वाचि यमो व्रते ३/२/४०/ गृहस्थों के आचार में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये नाना प्रकार की बलि देने की प्रथा आरम्भ हो गयी थी। कुबेर को दी हुई बलि कुबेरबलि और चार महाराजदेवताओं की बलि महाराजबलि कही जाती थी। वैदिक स्थालीपाक रुप हवि और लौकिक बलि इन दोनों के सम्मिलन से गृहस्थ धर्म मे देवताओं के उत्सव के लिये किसी दिन पूड़ी—पकवान, कड़ाही आदि करने का रिवाज चल पडा था। पश्चात् यह स्मार्त धर्म का प्रिय लोकाचार बन गया। बलि के लिये प्रयुक्त अन्न बालेय कहा जाता था ५/१/१३।

श्राद्ध

कव्यवाहन अग्नि ३/२/६५ में पितरों के लिये अन्न की आहुति दी जाती थी। पितरों को देवता कहा गया है। सास्य देवता मानकर उन्हें

जो हवि दी जाती उसे पित्र्य हवि कहते थे। ४/२/३१। आश्विन कृष्ण पक्ष जिसे पितृ–पक्ष भी कहते हैं या शरद् ऋतु मे महालय श्राद्ध को शारदिक श्राद्ध कहते थे। श्राद्धे शरदः ४/३/१२। श्राद्ध मे भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाता था–श्राद्धमनेन भुक्तमिनठनौ ५/२/८५। कात्यायन ने कहा है कि जिस दिन श्राद्ध भोजन किया हो उसी दिन के लिये यह विशेषण था (समान काल ग्रहणम्)। यदि आज किसी ने श्राद्ध खाया तो कल उसी को श्राद्धी नहीं कहा जाता था–अद्य भुङ्.क्ते श्राद्धे श्वः श्राद्धिक इति मा भूत–भाष्य। इस शब्द की भाषा में आकांक्षा इस लिये हुयी कि श्राद्ध भोजी ब्राह्मण को उसी दिन अपराह्न या रात्रि में कुछ जप आदि के द्वारा आत्म संस्कार विहित था। गुरुकुल का जो ब्रह्मचारी श्राद्धिक होता वह उस दिन अनध्याय रखकर जप करने के कारण उसी दिन के लिये इस विशेष शब्द से अभिहित होता था। धार्मिक कृत्यों में मुण्डन की प्रथा थी। मुण्डन कराने वाला मद्रंकर या मंद्रकार कहलाता था ३/२/४४।

लोक विश्वास

ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन में लोगों का विश्वास था, जैसे–देवदत्ताय ईक्षते अर्थात् ज्योतिषी देवदत्त की कुण्डली का फल विचार रहा है राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १/४/३६। इसी प्रकार शरीर के चिह्नों से फल विचार भी माना जाता था–लक्षणे जायापत्योष्टक् ३/२/५२/ वशीकरण मन्त्र को आचार्य पाणिनि ने 'वन्धन ऋषि' अर्थात् मन को वॉधने वाला वेद मन्त्र कहा है, वही हृद्य कहलाता था।[1]

यह भी मान्यता थी कि कुछ विशिष्ट दिन पवित्र होते है उन्हें पुण्याह या पुण्यरात्र कहते थे ५/४/८७/ सुकर्म से पुण्यफल मिलता है इस प्रकार का विश्वास और तदनुसार क्रिया की भी प्रथा थी (सप्तम्याः पुण्यम् ६/२/१५२) जैसे वेद–पुण्यम्, अध्ययन–पुण्यम्। भ्रूण हत्या ६/४/१७४, ब्रह्म हत्या ३/२/८७ जैसे महापातको का भी उल्लेख है।

---

१. बन्धने चर्षौ ४/४/९६ परहृदयं येन बद्ध्यते वशीक्रियते स वशीकरण मन्त्रो हृद्य इत्युच्यते।

धर्म

धर्म शब्द के अष्टाध्यायी में दो अर्थ हैं–

(१) परम्परा प्राप्त आचार जो धर्मसूत्रो में है जैसे ४/४/४७ तस्य धर्म्यम्, धर्म्य = आचारयुक्त–काशिका। जो धर्म या आचार के अनुकूल होता था उसे धर्म्य कहते थे–धर्मादनपेतम् ४/४/९२। शुल्कशाला पर जो चुंगी लगती थी उसे भी धर्म्य कहा गया है क्योंकि इस प्रकार के वंधन पीढ़ी–दर–पीढ़ी के रिवाज से लोक में प्रचलित थे।

(२) धर्म शब्द का दूसरा प्रयोग नीति धर्म के लिये है, जो उसका प्रसिद्ध अर्थ है जैसे–धर्म चरति धार्मिकः ४/४/४१।

दर्शन

ज्ञान का नया आदर्श

लगभग दशवीं शती ई० पू० से पाँचवी शती ई० पू० तक का महाजनपद युग भारतवर्ष में अभूतपूर्व ज्ञानमन्थन का काल था। इसी समय कितने ही शास्त्रों की नयी उद्‌भावना हुई जिसे पाणिनि ने उपज्ञात साहित्य कहा है। यही आद्य आचिख्यासा अर्थात् प्रतिभाशाली मस्तिष्कों से ज्ञान का स्वतन्त्र उद्‌भव था। इसी समय व्याकरण, निरुक्त आदि शास्त्रो का जन्म हुआ। शाकटायन, यास्क, औदव्रजि, आपिशलि, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, शाकल्य, वैशम्पायन जैसे आचार्यों ने विद्या के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मौलिक कार्य किया। श्लोकों के निर्माण का भी बहुत कार्य हुआ। महाभारत का विपुल अंश इसी युग का है। काव्य, विज्ञान, नाट्य आदि के अतिरिक्त जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ वह दर्शन के क्षेत्र में था। विभिन्न तत्त्वज्ञानियों ने जगत्, जीव, ईश्वर के विषय में, मनुष्य के जीवन, उसके कर्तव्य, नीति–धर्म एवं सामाजिक समस्याओं, एवं सुख दुःख की महती समस्या के

विषय में मौलिक चिन्तन किया। यह सब उथल–पुथल बहुत ही कल्याणप्रद हुई। भारतीय ज्ञानाकाश में मानों ज्ञान के एक नये अधिदेवता का जन्म हुआ।

ज्ञ देवता

पाणिनि ने जानातीति ज्ञः इस अर्थ में ज्ञः को स्वतन्त्र शब्द माना है। यह ज्ञ उस काल की परिभाषा में क्षेत्रज पुरुष की संज्ञा थी– क्षेत्रज्ञ या आत्मा, वही यह देखने वाला, ज्ञाता या उपभोग करने वाला है, और इसे ही सांख्यशास्त्र में 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते है।[1] इसी क्षेत्रज पुरुष या 'ज्ञ' पुरुष की खोज ही उपनिषद् युग का सर्वोपरि आदर्श था। पाणिनीय युग में भी उसकी प्रतिध्वनि विद्यमान थी और उस महान् आन्दोलन का जो सुफल था उसकी निधि जनता के पास थी। जिन व्यक्तियों ने तत्त्वदर्शन के इस आन्दोलन में विशेष भाग लिया वे भी ज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार यूनान में लगभग समकालीन तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र. में जो अग्रणी थे वे सोफिस्ट कहलाते थे, उसी प्रकार इस देश में 'ज्ञ' थे। पजञ्जलि ने 'ज्ञ' नामक ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जो 'ज्ञ' देवता या तत्त्व ज्ञान के आन्दोलन के प्रतिनिधि थे।

मति या दिट्ठि

उस युग में दार्शनिक या तत्त्व चिन्तकों के विचार के लिये बौद्ध और जैन साहित्य में दिट्ठि शब्द मिलता है। इसके मूल में वही दृश् धातु है जिससे दर्शन शब्द बना है। पाणिनि ने दिट्ठि के लिये मति शब्द का प्रयोग किया है ४/४/६०। मत या ज्ञान के साधन को मत्य कहते थे।

पाणिनि ने अपने युग की दिट्ठियों का वर्गीकरण किया है जो जितना ही संक्षिप्त है। उतना ही मूलभूत् और तात्त्विक है। उस युग के बौद्धिक मन्थन ने अनेक संख्यक मत या दिट्ठियों को जन्म दिया था।

---

१. गीता रहस्य–लोकमान्य तिलक पृ० १६२

पाणिनि ने इन्हें आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक कहा है—अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४/४/६०। दिट्ठि या मतियों की सूची श्वेताश्वतर उपनिषद् १/२ में दी है—कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, पुरुषवाद। इस सूची में काल का पहला उल्लेख है। पाणिनि युग से पहले काल को सृष्टि का कारण मानकर व्याख्या करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। पाणिनि के अनुसार कालवाची शब्दों को नयी प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी, वे देवता मान लिये गये जिनकी पूजा होने लगी ४/२/३४/ नक्षत्र और ऋतु भी देवता माने जाने लग। कालवादी दार्शनिकों को ही अहोरात्रविद् कहा जाता था।

इसके बाद स्वाभाव को सृष्टि का कारण मानने वाले थे। इसके समकक्ष पूरण कस्सप का प्रक्रियावाद का सिद्धान्त था। इसे ही शाश्वतवाद भी कहते थे। सब कुछ अपने स्वाभाव से सदा से ऐसे ही हो रहा है, कोई न करने वाला है और न कारण है, ईश्वर की कहीं आवश्यकता या अवसर नहीं हैं।[1] बिना किसी हेतु के आकस्मिक संयोग से यह जगत् बन गया है। भूतवाद के प्रतिनिधि लोकायत दर्शन के अनुयायी थे जो पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे।

योनिवाद उस दिट्ठि की संज्ञा थी जिसमें जन्म को ही सब कुछ माना जाता था। ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में जन्म लेने से ही मानव के जीवन की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है, यही इनका मत है। बल से ही व्यक्ति और समाज का नियमन और संचालन होता है, यही दृष्टिकोण था।[2]

नास्तिक मति के अर्न्तगत एक सम्प्रदाय बहुत प्रभावी था जिसे सबसे अलग नाम से पुकारा जाता था। यह मक्खलिगोशाल का नियतिवाद था। पाणिनि ने उसका अलग उल्लेख किया है, वही दिष्टमति वाले या दैष्टिक थे। वे कर्म और मानुषी पराक्रम का खण्डन या उपहास करते थे। पतञ्जलि ने निश्चित शब्दो में इस मत को उलिखित किया है —

१. महाभारत, शान्ति पर्व २१५/१५–१६
२. महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय १७३– खतविज्जावाद जा० ५/२४०

"माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिपर्वः श्रेयसी—व्याहातो मस्करी परिव्राजकः ६/१/१५४

अर्थात मस्करी परिव्राजक का नाम इसलिये था क्योंकि वह कहता था—कर्म मत करो, बिल्कुल कर्म मत करो, शान्ति से मोक्ष मिलेगा। बौद्ध और जैन साहित्य मे मक्खलि के जीवन और मत का विस्तृत उल्लेख है। ये लोग आजीवक कहलाते थे। पतंजलि ने जो बार—बार 'मा कर्म कार्षीः कहा है उसका लक्ष्य शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के कर्मो का निवारण है। महाभारत में धृतराष्ट्र और ययाति को नियतिवादी या दैष्टिक मतानुयायी बताया गया है।

अन्य शब्द

महेन्द्र

इन्द्र के लिये वृत्रहन् ३/२/८७, मरुत्वत् ४/२/३२ मघवन् ४/४/१२८ के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी ४/२/२६ में आया है। यह शब्द ऋग्वैदिक नहीं था। महेन्द्र या महान् इन्द्र की कल्पना का आधार कुछ इस प्रकार था। शतपथ ब्राह्मण में शरीरस्थ पञ्च प्राणों को समिद्ध और सञ्चालित करने वाले इन्द्र नामक मध्य प्राण की कल्पना की गई है।[1] यह मध्य प्राण ही इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली शक्ति है। ब्राह्मण और उपनिषदों में इन्द्र और इन्द्रियों के सम्बन्ध की विविध कल्पनाएं पायी जाती हैं। इसी से पंच इन्द्रियों को इन्द्र की पांच शक्तियां माना गया और उन पांच प्राणो को पञ्चेन्द्र के रुप में कल्पित किया गया। महाभारत में पांच इन्द्रों का उल्लेख आया है— पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्र कल्पाः अर्थात् पाण्डु के पांच पुत्र पांच इन्द्रों के समान है।[2] पञ्च प्राणों के अधिपति मुख्य प्राण को जैसे मध्य प्राण कहा गया, उसी प्रकार पांच इन्द्रों में प्रधान शक्ति को महेन्द्र यह नाम दिया गया।

---

१ शतपथ ब्राह्मण ६/१/१/२

२ महाभारत, उद्योग पर्व ३३/१०३

इन्द और इन्द्रिय

पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति इन्द्र से की है। 'इन्द्रियं' इतना सूत्र लिखकर भी यह अभीष्ट पूरा हो सकता था, किन्तु आचार्य ने शब्दों की अत्यन्त उदारता से कारणवश यह विपुलसूत्र बनाया– इन्द्रियम्, इन्द्रलिंगम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा–५/२/६३ इसमें पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द को इन्द्र से सम्बन्धित मानते हुये उसकी पांच व्युत्पत्तियां दी हैं और उसके बाद जो शेष रह गई उनके लिये 'इति वा' लिखकर गुञ्जाइश कर दी है। इस सूत्र की वास्तविक पृष्ठिभूमि यास्क के निरुक्त अथवा व्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् साहित्य में प्राप्त होती है। यास्क ने इन्द्र की पन्द्रह व्युत्पत्तियां सङ्ग्रीत की हैं जिनका आधार इन्द्र और इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध की विविध दार्शनिक कल्पना या मान्यतायें थीं।[१] पाणिनीय शब्दों के मूल में वे ही मान्यतायें हैं–

१. इन्द्र-लिंगम्

इन्द्रियां इन्द्र के वाह्य लिंग या प्रतीक हैं। काशिका में लिखा है कि इस सूत्र में इन्द्र आत्मा है।[२] 'प्रारम्भ में असत् नामक ऋषि थे। वे प्राण (प्राणाः) थे। अमूर्त प्राण ने शरीर में प्रवेश किया वही इन्द्र है। वह स्वशक्ति से इन्द्रियों को संचालित करता है जो उसकी आध्यात्म सत्ता के चिन्ह हैं।'[३] यही इन्द्रलिंगम् की पृष्ठभूमि है।

२. इन्द्र-दृष्टम्

इन्द्रियां, इन्द्र से दृष्ट हुई, अर्थात् इन्द्र ने उनका अनुभव किया। यास्क के अनुसार यह आचार्य औपमन्यव का मत था–इदं दर्शनात् इति औपमन्यवः। ऐतरेय आरण्यक में भी यही मत है–इदम् अदर्श तस्माद् इन्द्रो नाम ३/१४। इस शरीर में आते ही इन्द्र ने इन्द्रियों को देख लिया अर्थात्

---

१ निरुक्त १०/८

२. इन्द्र आत्मा सा चक्षुरादिकरणेनानुमीयते। नाकतृकं करणमस्ति – काशिका ५/२/६३

३ शतपथ ६/१/१/२

उनकी सत्ता का अनुभव कर लिया, इसी से वह इन्द्र कहलाया। आचार्य औपमन्यव प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनके मत का यास्क ने अन्यत्र भी उपन्यास किया है। पाणिनि ने यह व्युत्पत्ति वहीं से ग्रहण की, ऐसी सम्भावना है।

३. इन्द्र -सृष्टम्

इन्द्रियों की सृष्टि इन्द्र ने की। यास्क ने इसे आचार्य आग्रायण का मत कहा है—इदं कारणादिति आग्रायणः (नि. १०/८) ऐतरेय उपनिषद् में इसी मत का उल्लेख है—ता एता देवताः सृष्टाः (ऐतरेय उपनिषद् २/१) काशिका ने लिखा है—आत्मना सृष्टं तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणोत्पन्नमिति कृत्वा।

४. इन्द्र-जुष्टम्

इन्द्र से जुष्ट अर्थात् प्रिय भाव से सहयुक्त होने के कारण इन्द्रियों का यह नाम पड़ा। जब इन्द्र इन्द्रियों के साथ रहता है, बहिर्मुख होता है तब वह सबसे अधिक प्रसन्न रहता है—आत्मना जुष्टं सेवितं तद्द्वारेण विज्ञानोत्पादनात्—काशिका। इन्द्र के प्रिय पान सोम का संचय इन्द्रिय रुपी पात्रों में होता है वहीं से वह इन्द्र को प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्रियों को सोमग्रह कहा गया है, (ग्रह = पात्र) २/२६। यास्क भी लिखते हैं कि इन्द्र को सर्वाधिक प्रसन्नता सोमपान से होती है। (इन्दौ रमते; इन्दु = सोम)। इन्द्र और इन्द्रियों का जो अत्यन्त रमणीय या सुखद सम्बन्ध है उसी का सूचक 'इन्द्र जुष्टम्' पद है।

५. इन्द्र-दत्तम्

इन्द्र ने इन्द्रियों को अपने विषय का भोग प्रदान किया है, इसी सम्बन्ध से वे इन्द्रियां कहलाती है— आत्मना विषयेभ्यो दत्तं यथायथं ग्रहणाय—काशिका। ऐतरेय उपनिषद् में यह कथा है— 'सब देव इस पुरुष में प्रविष्ट हुये। तब उस इन्द्र या आत्मा ने उनसे कहा, अपने— अपने स्थान

मे प्रतिष्ठित हो जाओ ' यथानियत स्थानो में बैठे हुए ये देव आज भी अपना—अपना कार्य कर रहे हैं। यही प्राचीन आख्यान पाणिनीय— 'इन्द्रदत्तम्' व्युत्पत्ति का मूल है।

६. इतिवा

सूत्र का यह अंश उन व्युत्पत्तियों के लिये भी जो यहां उद्धृत नही की गई हैं, सूत्रकार की मान्यता प्रदान करता है। इन्द्र की कुल १७ व्युत्पत्तियां प्राचीन वैदिक साहित्य और निरुक्त में आयी हैं। काशिका में कहा गया है कि 'इति' शब्द व्युत्पत्ति के प्रकारों का सूचक है, अतएव अन्य व्युत्पत्तियां भी सम्भव हैं। ''इति करणः प्रकारार्थः। सति संभव व्युत्पत्तिरन्यथापिकर्तव्या रुढेरनियमादिति। वा शब्दः प्रत्येकमभि सम्बध्यमानो विकल्पानां स्वातन्त्र्यं दर्शयति—काशिका इस सूत्र में आचार्य ने उदार शैली अपना कर शब्द—लाघव की अपेक्षा शब्द बाहुल्य से काम लिया।

परलोक

परलोक और पारलौकिक जीवन की सिद्धि इसी जीवन में तप आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार के विश्वास और प्रयत्न की भावना थी (सिध्यतेपारलौकिके ६/१/४६); जैसे—तपः तापसं सेधयति अर्थात् तप तपस्वी को सिद्ध बनाता है। तपस्वी ज्ञान—विशेष की प्राप्ति से जन्मान्तर के विषय में सिद्धि प्राप्त करता है।[१] लिप्स्यमान सिद्धौ च ३/३/७ की पृष्ठिभूमि में भी इस प्रकार परलोक या स्वर्ग आदि की सिद्धि को सम्भव माना गया है। उसकी प्राप्ति के लिये इस लोक में जो दान—दक्षिणा आदि दी जाती थी वे 'लिप्स्यमान' कहलाती थी। उससे स्वर्ग आदि की प्राप्ति का प्रलोभन यजमान को दिया जाता था जैसे—यो भक्तं ददाति स स्वर्गं गच्छति अर्थात जो भोजन देता है वह स्वर्ग जाता है। वेदों

---

१ तापस. सिध्यति। ज्ञान विशेषमासादयदि। तं तपः प्रयुक्ते। स च ज्ञान विशेष उत्पन्न परलोके जन्मान्तरे फलम्भ्युदयलक्षणमुपसहरन् परलोकप्रयोजनो भवति—काशिका ६/१/४६

मे स्वर्ग के लिये नाक शब्द का भी प्रयोग है। शतपथ ब्राह्मण मे नाक की व्युत्पत्ति इस प्रकार है न+अक अर्थात् नही है दुःख जहां वह नाक है।[1] पाणिनि ने भी ६/३/७५ सूत्र द्वारा इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है पाणिनि ने निःश्रेयस् शब्द का उल्लेख अपने ५/४/७७ सूत्र में किया है। उपनिषद् युग का मोक्ष परमानन्द के लिये नया शब्द था। अष्टाध्यायी मे निर्वाण शब्द का भी उल्लेख आया है– निर्वाणोऽवाते ८/२/५०। काशिका में इसके तीन उदाहरण हैं– निर्वाणेऽग्निः, निर्वाणोदीपः, निर्वाणोभिक्षुः इन तीनों में ध्वनि है कि निर्वाण नितान्त अभाव की दशा का नाम था। दीप या अग्नि के समान भिक्षु का अस्तित्त्व भी बिल्कुल (बुझ) जाता है, वही निर्वाण प्राप्ति की अवस्था है। इस शब्द के इस अर्थ में बौद्ध धर्म की मान्यता अन्तर्निहित है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण ८/२/१/२४

षष्ठ-सोपान

षष्ठ-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित शिक्षा एवं साहित्य

शिक्षा

पाणिनीय व्याकरण की रचना भाषा और साहित्य के क्षेत्र में पूर्ववर्ती दीर्घ विकास और उन्नति की सूचक है। उस उन्नति के मूल में वह सुन्दर शिक्षा प्रणाली थी जो महाफलवती हुई। अष्टाध्यायी से उस काल के विभिन्न साहित्यिक रुप ग्रन्थ रचना के प्रकार, शिक्षा संस्थाएँ, आचार्य और अन्तेवासी छात्र, शिक्षण प्रणाली, अध्ययन के विषय आदि के सम्बन्ध में बहुत सी मूल्यवान सामग्री प्राप्त होती है। आचार्य पाणिनि स्वयं प्रमाण हैं उस युग के ज्ञान सूर्य के उत्थान के। उनका तपस्वी जीवन, विश्लेषणात्मक कार्य प्रणाली, विषय के अनुशीलन में सूक्ष्मदृष्टि, भाषा पर असामान्य अधिकार, ग्रन्थ प्रणयन में प्रतिभा एवं सर्वोपरि दृढ संकल्प तथा महान् प्रयत्न ये गुण सदा के लिये भारतीय साहित्य पर अपनी छाप छोड़ गये हैं। उनके समकालीन शिक्षा जगत् में भी वे ओत–प्रोत थे जिसका परिणाम उस विशाल साहित्य के रुप में हुआ जिसे सूत्र–साहित्य कहा जाता है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रगत शब्दों से शिक्षा एवं साहित्य का तत्कालीन सामाजिक प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।

कुत्सित छात्र २/१/४२

नियमों का उल्लंघन करने वाले छात्रों की निन्दा के लिये कई शब्द प्रयुक्त होते थे जैसे– तीर्थध्वाक्ष, तीर्थकाक जो अपने तीर्थ या गुरु में कौए की तरह चञ्चल व्यवहार करे या गुरुकुल में पूरे समय तक निवास न करके उसे शीघ्र बदलता रहे।[1]

---

१ ध्वांक्षेण क्षेपे २/१/४२ पर भाष्य यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक।

इसी प्रकार खट्वारुढ़ शब्द उस छात्र के लिये प्रयुक्त होता था जो समय से पहले ही ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके आराम का जीवन व्यतीत करने लगा हो—खट्वाक्षेपे।

पाणिनि ने यह भी कहा है कि कुछ माणव और अन्तेवासी ऐसे होते थे जिनका पढ़ने—लिखने में मन न था, केवल गुरुकुल का माल उड़ाने के लिये माणव बन जाते थे।[1] वाल्मीकि रामायण मे कठकालाप चरण के माणवों के विषय में कहा है कि वे बड़े जिह्वालोलुप (स्वादुकामाः) और आलसी (अलसाः) थे और पढाई का बहाना बनाकर काम—काज में गुरु को धता दे जाते थे।[2]

गुरु

पाणिनि ने चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है। १. आचार्य, २. प्रवक्ता, ३. श्रोत्रिय, ४. अध्यापक। उपरोक्त में आचार्य का स्थान सर्वोच्च था शिष्य का उपनयन कराने का अधिकार आचार्य को ही था। अथर्ववेद में आचार्यकरण प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने विद्यागर्भ के भीतर प्रविष्ट कराता है।[3] इसी उदात्त कल्पना के आधार पर ब्रह्मचारी अन्तेवासी कहा जाता था। जिस प्रकार माता के गर्भ में शिशु पोषण पाता है उसी प्रकार अन्तेवासी आचार्य के विद्यागर्भ में सर्वभावेन आध्यात्मिक पोषण प्राप्त करता है। आचार्य और अन्तेवासी का यह सम्बन्ध यहाँ तक घनिष्ठ होता था कि आचार्य के ही नाम से अन्तेवासी का नाम पड़ जाता था, जैसा कि 'आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी' ६/२/१०४। जिस प्रकार तित्तिर आचार्य के शिष्य तैत्तिरीय, आपिशलि के आपिशल और पाणिनि के पाणिनीय कहलाते थे।

प्रवक्ता २/१/६५ - आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था। पाणिनि ने जिसे प्रोक्त साहित्य कहा है, अर्थात् शाखाग्रन्थ, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र

---

१. ६/२/६६ पर काशिका की व्याख्या – भिक्षां लप्स्येऽहमिति माणवो भवति—काशिका

२. रामायण, अयोध्याकाण्ड ३२/१८

३. अर्थववेद ११/५/३

आदि, उस साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। वेद और वेदाङ्गों का अर्थ सहित अध्यापन इनका कार्य था। इन्हें आख्याता भी कहा जाता था।[1] सूत्र २/१/६५ में प्रवक्ता, श्रोत्रिय, अध्यापक इन तीनों का उल्लेख क्रमिक महत्व के अनुसार है।

श्रोत्रिय २/१/६५

छन्द या वेद की शाखाओं को कण्ठ करने वाला विद्वान् श्रोत्रिय कहलाता था। श्रोत्रियश्छंदोऽधीते ५/२/८४। इनका सम्बन्ध विशेषतः वेद के पारायण से था। वे संहिता, पद, क्रम, दण्ड, जटा, घन आदि पाठों के अनुसार शाखा ग्रन्थ और उनके ब्राह्मण आदि को स्वयं को कण्ठ करते थे एवं विद्यार्थियों को कराते थे। इनके निर्देशन में रहकर विद्यार्थियों का जो वर्ग पदपाठ कण्ठस्थ करता वह पदक कहलाता था, इसी प्रकार क्रमपाठ कण्ठस्थ किये हुये छात्र क्रमक एवं वे गुरु भी अपने कण्ठस्थ किये हुये वेद पाठ के आधार पर उस–उस नाम से प्रसिद्ध होते थे। ऐसा प्रतीत एवं ज्ञात होता है कि बड़े–बड़े चरणों में भिन्न–भिन्न पाठ कण्ठस्थ कराने के लिये भिन्न–भिन्न अध्यापक होते थे। कोई पदक कहा जाता था और कोई क्रमक। जो जिस प्रकार के पारायण के श्रावक होते थे वह उसी के आधार पर पदक या क्रमक कहा जाता था– तदधीते तद्वेद के साथ उसका अर्थ, क्रमं वेद क्रमकः, पदं वेद पदकः होता है।

अध्यापक २/१/६५

पाणिनि ने 'कृते ग्रन्थे' या 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्रों में जिस साहित्य का उल्लेख किया है उस वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यापन कराने वाले गुरु अध्यापक कहलाते थे। माणवक आदि बाल कक्षा को भी ये लोग पढ़ाते थे। इन्हें ही आगे चलकर उपाध्याय कहा जाने लगा। भाष्य में कण्डिकोपाध्याय नाम मिलता है।

---

१ आख्यातोपयोगे १/४/२९, महाभारत, उद्योग पर्व ४३/३२

अध्याय ३/३/१२२

शिक्षा सस्था में अध्ययन के दिन अध्याय कहलाते थे। अधीयतेऽस्मिन् इति अध्यायः इसी व्युत्पत्ति के आधार पर अनध्याय वह दिन था जिस दिन अध्ययन बन्द रहे। पाणिनि ने इस बात का उल्लेख किया है कि अध्ययन में देश और काल सम्बन्धी कुछ नियम थे, उनका उल्लंघन करके जो छात्र देश विरुद्ध और काल विरुद्ध अध्ययन करता था उसका नाम उसी प्रकार पड़ जाता था– अध्यायिन्यदेशकालात् ४/४/७१। इस प्रकार का उल्लेख काशिका में आया है कि जो छात्र श्मशान में या चौराहे पर पढ़ता था उसका नाम श्मशानिक या चातुष्पथिक होता था। जानबूझकर श्मशान में जाकर कोई विद्यार्थी क्या पढ़ता ? ऐसा प्रतीत होता है कि श्मशान यात्रा के कारण सभी छात्र जब पाठ बन्द रखते, उस दिन भी जो वहाँ पढ़ता, उसके लिये ऐसा निन्दा भरा विशेषण प्रयुक्त होता था, इसी प्रकार जब किसी हाट–मेले के कारण औरों का पाठ बन्द रहता तब भी जो पढ़ता वह चातुष्पथिक कहलाता था। चातुर्दशिक और आमावस्यिक उदाहरणों से सूचित होता है कि चतुर्दशी और अमावस्या को भी पाठ वर्जित था क्योंकि ये दर्शपौर्णमास इष्टि के दिन थे। इन शब्दों में जो निन्दा का भाव था, वह स्थायी नहीं, उसी काल तक के लिये होता था।

एक ही चरण में पढने वाले ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी–चरणे ब्रह्मचारिणि ६/३/८६। एक ही गुरु के पास अध्ययन करने वाले छात्रों को सतीर्थ्य कहा जाता–समानतीर्थे वासी ४/४/१०७ तीर्थे ये ६/३/८७।

जिन संस्थाओं में अध्ययन के विषय और ग्रन्थों का इतना विस्तार था वहाँ यह आवश्यक था कि छात्रों को कक्षा या वर्गों में बाँटा जाय। यह वर्गीकरण दो प्रकार से होता था, १. जो छात्र एक विषय का एक समय में अध्ययन करते उनकी एक कक्षा बना दी जाती थी। २. कभी–कभी ऐसी एकाधिक कक्षाओं के छात्र कार्य विशेष के लिये एक साथ मिलकर भी अपने विशेष वर्ग बना लेते थे, लेकिन शर्त यह थी कि उनकी कक्षायें पृथक् होते हुये

भी पाठ्यक्रम के पौर्वापर्य से एक दूसरे के बाद पड़ती हो, अर्थात् उनमें अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो – अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २/४/५। उदाहरणार्थ– क्रम पाठ पढ़ने वाले छात्र क्रमकाः' कहलाते थे। इसी प्रकार ही पद पाठ की कक्षा वाले 'पदकाः' – क्रमादिभ्यो वुन् ४/२/६१। पदपाठ का अध्ययन पहले और उसके तुरन्त बाद क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता था, अतएव क्रमक एवं पदक ये दो कक्षाएं एक दूसरे से सन्निकट थीं। उनमें और किसी का व्यवधान न था, इसलिये उन दोनों के नामों का जोड़ा भाषा में चल जाता था, उसे पदक्रमकम् इस एक वचनान्त पद से प्रकट करते थे। यह ठीक उसी प्रकार था जैसे आजकल बी.ए., एम.ए. इन दो नामों को एक साथ बोला जाता है। जब कभी निमंत्रण आदि के लिये छात्रों को बाहर जाना होता तो आचार्य इस प्रकार कहते– पदक–क्रमकं गच्छतु अर्थात् आज पदक और क्रमक छात्र वहाँ जॉय। काशिका में क्रमकवार्तिकम् उदाहरण और दिया है जिससे यह ज्ञात है कि जैसा पद पाठ के बाद क्रमपाठ पढ़ने की प्रथा थी वैसे ही क्रमपाठ के बाद वृत्ति का अध्ययन किया जाता था। क्रम और वृत्ति इन दोनों का प्रत्यासन्नपाठ था। वृत्ति से तात्पर्य व्याकरण सूत्रों की वृत्ति ज्ञात होता है। इससे यह सूचित होता है कि पदपाठ और क्रमपाठ का पारायण पहले सब छात्रों को करा दिया जाता था और उसके बाद व्याकरण की पढ़ाई आरम्भ होती थी। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी यही बात लिखी है।[1]

स्त्री शिक्षा ४/१/६३

पाणिनि और पतञ्जलि दोनों ने वैदिक चरणों में अध्ययन करने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया है। जातेरस्त्रीविषयादयो– पधात् ४/१/६३ सूत्र में जाति की परिभाषा के अन्तर्गत गोत्र और चरण दोनों का ग्रहण किया गया है– गोत्रञ्च चरणानि च, भाष्य। इस प्रकार कठचरण में अध्ययन करने वाली छात्रा कठी और ऋग्वेद के बह्वृच् चरण बह्वृची कहलाती थी।

१ पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तर कालं ब्राह्मणा· व्याकरणं स्माधीयते, तेभ्यस्तत्र स्थानकरणा नादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका· शब्दा उपदिश्यन्ते, तदद्यत्वे न तथा वेदमधीत्यत्वरिता वक्तारो भवन्ति– महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

छात्रों के नामकरण के जो नियम थे वही छात्राओं के लिये लागू थे, उदाहरणस्वरुप आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री आपिशिला ब्राह्मणी कहलाती थी। इसी प्रकार पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री पाणिनीया ब्राह्मणी थी। भाष्य से यह भी ज्ञात होता है कि मीमांसा जैसे क्लिष्ट विषय का अध्ययन भी स्त्रियों के लिये विहित था यथा—काशकृत्स्नि आचार्य के मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करने वाली छात्रा काशकृत्स्ना कही जाती थी।[1] पतञ्जलि ने नियमित अध्ययन करने वाली इन छात्राओं को अध्येत्री कहा है। भाष्य में स्त्री छात्राओं के नामकरण का जो प्रकरण है उसकी पृष्ठभूमि ऐसी है मानो स्त्रियों की उच्चशिक्षा समाज की एक सामान्य सी बात हो। पाणिनि ने इन अध्येत्री स्त्रियों के लिये निर्मित छात्रिशालाओं का उल्लेख किया है— ६/२/८६। आचार्य की स्त्री तो आचार्यानी कही जाती ही थी किन्तु जो स्वयं आचार्य के ही समान विद्या के क्षेत्र में ऊँचे उठकर अध्यापन का कार्य कराती थीं और छात्राओं के उपनयन आदि का भी अधिकार रखती थीं उन्हें आचार्या कहते थे। भाष्यकार ने एक उदाहरण में यहॉ तक संकेत किया है कि इन आचार्याओं से पुरुष छात्र भी पढ़ते थे, जैसे—औदमेध्या आचार्या से पढ़ने वाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से औदमेध कहलाते थे।[2] यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार शाकल आदि चरणों के विद्यार्थी संघ आदर्श के अनुसार अपना संगठन बना लेते थे जो शाकल संघ आदि नामों से प्रसिद्ध होते थे, ऐसे ही औदमेध्या के छात्रों के संघ का औदमेधाः यह बहुवचनान्त नाम पडता था। कठीवृन्दारिका जैसा शब्द कठ शाखा की उस छात्रा के लिये भाषा में प्रयुक्त होता था जो अपने चरण में विशेष कीर्ति या अग्र पद प्राप्त करती थी। षष्टि पथ और शतपथ का अध्ययन करने वाली स्त्रियाँ षष्टिपथिकी और शतपथिकी कहलाती थी।[3] माणव की तरह अनुपनीत कुमारी छात्रा माणविका कही जाती थी।

---

१ एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, काश कृत्स्नमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी— ४/१/१४ भाष्य

२ औदमेध्यायाश्छात्रा औदमेधा ४/१/७६ वा १ भाष्य

३ शतषष्टेः षिकन्पथ. — काशिका ४/२/६०

चरण ४/२/४६

चरण उस प्रकार की शिक्षा संस्था थी जिसमे वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था और जिसका नाम मूल संस्थापक के नाम से पडता था। इसका प्रबन्ध संघ के आदर्श पर होता था।[1] वैदिक साहित्य के विविध अंगों का विकास चरणों में हुआ था, जैसे मूल संस्थापक ऋषि द्वारा प्रोक्त छन्द या शाखा, मंत्रों की अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत और अधियज्ञ परक व्याख्या करने वाला ब्राह्मण ग्रन्थ एवं श्रौत सूत्र आदि कल्पग्रन्थ। पाणिनि के समय से पूर्व ही चरणों में वैदिक साहित्य का इतना विकास सम्पन्न हो चुका था– ४/२/६६, ४/३/१०५। वस्तुतः वैदिक शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों का चरणों के साथ ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता था कि इन दोनों प्रकार के साहित्य का नामकरण चरणों में उनका अध्ययन अध्यापन करने वाले (अध्येतृ–वेदितृ) विद्वान् गुरु–शिष्यों के नाम पर ही प्रसिद्ध होता था। छन्द या शाखायें ग्रन्थ मात्र नहीं रह गई थीं बल्कि उन्होंने संस्थाओं का रुप ले लिया था जिसमें ब्राह्मण, आरण्यक, श्रौत सूत्र आदि साहित्य का भी समावेश हो गया था। पाणिनि काल में चरणों का विकास एक सीढ़ी और आगे पहुँच चुका था, अर्थात् श्रौत सूत्र या कल्प ग्रन्थों के बाद धर्म सूत्रों की रचना भी चरण साहित्य के अन्तर्गत हो गई थी। चरणेभ्यो धर्मवत् ४/२/४६ सूत्र में आचार्य ने इसी का उल्लेख किया है, वार्तिककार कात्यायन ने इसी पर वार्तिक लिखा है– चरणाद् धर्माम्नाययोः। वैदिक चरणों के विकास की यह अन्तिम कड़ी थी। जब धर्म सूत्रों का अध्ययन चरणों में हुआ, उसी युग में कितने ही नये विषयों का अध्ययन चरणों के बाहर भी होने लगा था, जिनकी शिक्षा विधि के नियम चरणों की अपेक्षा सम्भवतः सरल थे। एक बार जब गुरु या शास्त्रज्ञ लोगों के स्वतंत्र रीति से अध्यापन कराने की प्रथा शुरु हुई तो फिर चरणों की वह बँधी हुई प्रतिष्ठा छिनती ही चली गई। यास्क कृत निरुक्त एवं पाणिनि कृत अष्टाध्यायी इसी प्रकार के स्वतंत्र शास्त्र और ग्रन्थ थे जिन पर किसी एक चरण का सर्वाधिकार न था और जिनका

१. चरण शब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्तते–काशिका २/४/३

निर्माण और अध्ययन चरणों के बाहर हुआ और होने लगा था। पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी के विषय में यह बहुत ही महत्वपूर्ण सूचना दी है कि उसका सम्बन्ध किसी एक चरण से न था बल्कि सभी चरणों की परिषदें उन्हें अपना रही थीं।

"सर्व वेद हीदं शास्त्रम्" (२/१/५८) (६/३/१४)— भाष्य। नये शास्त्रों की रचना सबके वश की बात न थी। अतएव जहाँ भी चाहे उनका निर्माण हुआ हो, सब चरणों को उन्हें अपने पाठ्यक्रम में स्वीकार कर लेना पड़ता था।

छात्रों के नामकरण

छात्रों के नामकरण के तीन आधार थे। १. अध्ययन के विषय के अनुसार, २. जिस चरण में शिक्षा पाते हों उसके अनुसार, ३. जिस गुरु के यहाँ या जिसके ग्रन्थ पढ़ते हों उसके नाम के अनुसार।

विषय के अनुसार छात्रों के नामकरण का विधान ४/२/६०—६२ सूत्रों में है। ऋतु या सोमयज्ञों का अध्ययन करने वाले छात्र उन यज्ञों के नाम से अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक—ऋतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४/२/६०। वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करने वाले छात्र क्रमक और पदक— क्रमादिभ्यो वुन् ४/२/६१। अनुब्राह्मण नामक विशेष ग्रन्थों के विद्यार्थी अनुब्राह्मणी—अनुब्राह्मणादिनिः ४/२/६२ कहलाते थे। इस प्रकरण में उक्थादिगण महत्वपूर्ण है जिसमें अनेक प्रकार के नये—नये अध्ययन विषयों का उल्लेख है। यज्ञीय कर्मकाण्ड का अध्ययन करने वाले छात्र याज्ञिक कहे जाते थे। याज्ञिक का उल्लेख अन्यत्र भी किया गया है ४/३/१२६। ऋतुओं के अनुसार अध्ययन के विषयों में क्रमिक परिवर्तन होता रहता था जैसे—वसन्त ऋतु मे जिस ग्रन्थ का पाठ हो, उसका नाम भी वसन्त पड़ जाता था और वसन्त ऋतु की उस कक्षा के छात्र भी वासन्तिक कहे जाते थे।[1] स्मृतियों से ज्ञात होता है कि माघ शुक्ल पञ्चमी अर्थात् वसन्तपञ्चमी के दिन प्राचीन

१. वसन्तादिभ्यष्ठक् ४/२/६३ वसन्तसहचरितोऽयं ग्रन्थो बसन्तस्तमधीते— काशिका ४/२/६३

विद्यालयों का वसन्त सत्र आरम्भ होता था और उस समय विशेषत. वेदांगों का अध्ययन किया जाता था।[1] उससे पूर्व श्रावणी पूर्णिमा से पौष की अमावस्या तक या भाद्र पूर्णिमा से माघ की अमावस्या तक ४.५ महीने का सत्र विशेषतः छन्दों के अध्ययन या वैदिक पारायण के लिये होता था।[2] वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर आदि ऋतुओ में भी छात्र अल्पकालिक अध्ययन के लिये कुछ विषय या ग्रन्थ चुन लेते थे। ऐसे छात्रों को वार्षिक, शारदिक, हैमन्तिक एवं शैशिरिक कहा जाता था।[3] वर्तमान काल में भी कुछ इसी ढंग पर वसन्त, ग्रीष्म, शरद् आदि ऋतुओं में महीने दो महीने की विशेष आख्यानमालायें आयोजित की जाती हैं।

वैदिक छात्रों का नामकरण

चरणों के अन्तर्गत भिन्न–भिन्न छन्द या शाखा ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। उनके अध्येता छात्रों का नाम उन छन्द ग्रन्थों के नाम से रखा जाता था, जैसे तित्तिरि आचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तैत्तिरीय कहलाते थे। वस्तुतः स्थिति यह थी कि प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित छन्द और ब्राह्मण इन दोनों का कोई स्वतंत्र नाम न था, बल्कि उनके पढ़ने वाले छात्र और पढ़ाने वाले गुरुओं के नाम से ही ग्रन्थों का नाम लोक में प्रचलित होता था– छन्दो ब्रह्मणानि च तद्विषयाणि ४/२/६६।

तद् विषयता का नियम

तदधीते तद्वेद प्रकरण में अष्टाध्यायी में तद्विषयता का नियम बहुत महत्वपूर्ण हैं। शाखा का मूलप्रवर्तक प्रत्यक्षकारी कहलाता था (४/३/१०४ वा.), वही चरण का संस्थापक आचार्य भी होता था। उसकी छान्दस शाखा का अध्ययन उस चरण के विद्यार्थी करते थे। आचार्य कठ और उसके द्वारा प्रोक्त छान्दस ग्रन्थ– इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये पहले कठ शब्द में

१ मनु. ४/६८
२ मनु. ४/६५
३ ४/२/६३ गणपाठ

एक प्रत्यय जोडा जाता था। उसका विधान पाणिनि ने 'तेन प्रोक्तम्' ४/३/१०१ सूत्र में किया है। इस प्रकार जो शब्द रुप बनता था उससे फिर एक दूसरा प्रत्यय उस ग्रन्थ के पढ़ने वाले या पढाने वाले इन दो अर्थों को व्यक्त करने के लिये जोडा जाता था। इस प्रत्यय का विधान 'तदधीते तद्वेद' इस सूत्र में किया गया है। पहला प्रोक्त प्रत्यय और दूसरा अध्येतृ–वेदितृ प्रत्यय कहलाता था। प्रोक्ताल्लुक् ४/२/६४) सूत्र से विद्यार्थी वाची दूसरे प्रत्यय का लोप हो जाता है, किन्तु उसका अर्थ शब्द में बना रहता है। फलतः छन्द और ब्राह्मण के नाम का जो रुप प्रोक्त प्रत्यय लगाने से बनता था उसका अर्थ तदधीते तद्वेद् के अनुसार उस शाखा और ब्राह्मण के पढ़ने–पढाने वालों के लिये किया जाता था, अतएव वैदिक मूल ग्रन्थों का नाम सदा उनके छात्रों का ही बोधक होता था जैसे कठ आचार्य द्वारा प्रोक्त जो कठ शाखा थी उसके पढ़ने–पढ़ाने वालों (अध्येतृ–वेदितृ) का नाम कठाः होता था। कठ जो साधारणतः कठ प्रोक्त पुस्तक का नाम होना चाहिए था, उन सब छात्र और गुरुओं का बोध कराता था, जो उसको पढ़ते (अधीयान) और पढ़ाते (तद्वेद), थे। मूल कठ शब्द आचार्य के नाम से और उसकी शाखा के नाम से एक सीढ़ी आगे बढकर चरण का नाम बन गया। यही तद्विषयता का नियम था - अर्थात् छन्द और ब्राह्मण का नामकरण स्वतंत्र न होकर अध्येतृ–वेदितृ परक होता था। जिस प्रधान आचार्य ने शाखा का प्रवचन किया था वह अथवा उसके शिष्य ब्राह्मण आदि नये व्याख्या ग्रन्थों की रचना भी करते रहते थे। उनकी शिष्य परम्परा में आगे आने वाले लोग भी उन व्याख्यानों और विमर्शों में अपना–अपना भाग जोड़ते रहते थे। किन्तु उन सबका नामकरण स्वतंत्र न होकर चरण के नाम से ही किया जाता था जैसे–तित्तिरि आचार्य के तैत्तिरीय चरण में तैत्तिरीय शाखा, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय उपनिषद्, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य आदि समस्त तैत्तिरीय चरण के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था। जब तक वैदिक चरणों का संगठन दृढ़ रहा, नामकरण की यही पद्धति प्रचलित रही। आगे चलकर वैदिक चरणों के अन्तर्गत कल्प साहित्य की भी रचना हुयी, जिसमें श्रौत सूत्र आदि थे–

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४/३/१०५। कुछ चरणों में धर्मसूत्रों का भी निर्माण हुआ— चरणेभ्यो धर्मवत् ४/२/४६। इन सबका नाम उसी पुरानी शैली से चरण के नाम के अनुसार रखा गया। स्वाभाविक है कि सब चरण या शिक्षण संस्थाओं का समान महत्व न था, उनमें कुछ प्रधान या बडे और कुछ छोटे चरण थे। प्रधान चरणों में तो छन्द (शाखा), ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषत्, प्रातिशाख्य, श्रौतसूत्र आदि पूरे या अधिकांश साहित्य का विकास हो गया था, पर छोटे चरण उसी परम्परा में एकाध सूत्रग्रन्थ ही बना पाते थे, उनका साहित्यिक प्रयत्न उसी तक सीमित रह जाता था। इन्हें सूत्र चरण कहते थे। एक सूत्रग्रन्थ के निर्माण द्वारा वे अपना अस्तित्त्व चरितार्थ करते थे। वैदिक शाखाओं में कुछ का अधिक महत्व था कुछ का कम। कुछ में स्वतन्त्र सामग्री अधिक होती थी, कुछ में नाममात्र का पाठ परिवर्तन रहता था।

छात्रों का बढ़ता हुआ एक नया वर्ग ऐसा भी था जो चरण या वैदिक शिक्षा संस्थाओं से स्वतंत्र रहकर उन ग्रन्थों का अध्ययन करता था, जिनकी रचना चरणों की सीमित परिधि से बाहर बड़ें वेग से हो रही थी। वस्तुतः यह महान् आचार्यों का युग था। शाकटायन और आपिशलि, स्फोटायन और भारद्वाज आदि महान् आचार्यो ने व्याकरण और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में बिल्कुल नयी रचनाएं की थीं। उनकी रचनाओं का पठन–पाठन लोक में व्यापक रुप से होने लगा था। स्वयं पाणिनि इसी प्रकार के धुरन्धर आचार्य थे, जिन्होंने एक नये शास्त्र का प्रणयन किया। जो विद्यार्थी जिस आचार्य के शास्त्र या ग्रन्थ का अध्ययन करता वह उसी नाम से पुकारा जाता जैसे— आपिशलि के आपिशल, शाकटायन के शाकटायनीय और पाणिनि व्याकरण के पाणिनीय कहलाते थे। वैदिक चरणों का क्षेत्र इसकी अपेक्षा कहीं व्यापक था, किन्तु फिर भी इस प्रकार के स्वतंत्र आचार्य और उनके शास्त्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। पाणिनि ने ऐसे ही आचार्यों को उपज्ञाता ४/३/११५ और उनके द्वारा नये नये विषयों के विवेचन को आद्य आचिख्यासा कहा है। २/४/२१।

उपज्ञात ४/३/११५

पारायण विधि द्वारा वेद वेदाङ्गों को कण्ठस्थ कर लेना शिक्षण विधि का एक अंग था, इससे तत्कालीन ज्ञान साधन के यत्नों का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदों को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से सन्तुष्ट हो जाने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। पतञ्जलि ने भी आगे चलकर एक पुराने श्लोक का उद्धरण देते हुये इसमें अरुचि प्रकट की है। बिना समझे–बूझे कण्ठ फाड़ कर घोखना ऐसा ही है जैसे अग्नि के बिना सूखे कण्डों का ढेर हो।[1] यह मानना पड़ेगा कि सूत्र युग में ज्ञानपूर्वक अध्ययन की ओर लोगों का सविशेष ध्यान था। पाणिनि की अष्टाध्यायी शब्दों के संग्रह और विश्लेषण में किये गये भूरि परिश्रम का फल थी। यास्क के निरुक्त एवं शाकटायन और आपिशलि के व्याकरण भी इसी प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति के परिणाम थे। इस प्रकार मौलिक चिन्तन और सामग्री के संकलन एवं विश्लेषण से जिन नये शास्त्रों की उद्‌भावना की जाती थी उन्हें पाणिनि ने उपज्ञात कहा है ४/३/११५। पुराने ग्रन्थों के व्याख्यान से उपज्ञात साहित्य भिन्न प्रकार का था। पाणिनि का व्याकरण उपज्ञात कोटि में था– पाणिन्युपज्ञं व्याकरणं; पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम्।

छात्र ४/४/६२ - शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी– तदस्य ब्रह्मचर्यम् ५/१/६४। इसमें न केवल शिक्षा, बल्कि ज्ञान सञ्चय की चर्चा या आन्तरिक जीवन के निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरु और शिष्य विद्या सम्बन्ध से परस्पर बंधे होते थे ४/३/७७। यह सम्बन्ध योनि सम्बन्ध के सदृश ही पवित्र और प्रभावपूर्ण था। शिष्य अन्तेवासी के रुप में आचार्य के साथ ही निवास करते और सच्चे अर्थों में आचार्य के जीवन से प्रभावित होते थे। ब्रह्मचारी चरण नामक विद्या संस्थान में अन्य ब्रह्मचारियों के साथ विद्याध्ययन करते थे। आचार्य के जीवन का वेग और शक्ति उनके द्वारा संस्थापित चरणों के माध्यम से प्रकट होती थी। ब्राह्मण,

१. यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलति कहिचित्।। –महाभाष्य, पस्पशाह्निक

क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णो के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे– वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५/२/१३४। यह शब्द संहिता और ब्राह्मणों में अविदित था। गुरु से पढ़ने वालों के लिये छात्र यह सामान्य शब्द प्रयुक्त होता था– छात्रादिभ्योण: ४/४/६२। छात्र शब्द के मूल में यह कल्पना बड़ी मधुर है कि वह आचार्य के जीवन पर छत्र के समान छाया रहता था– छत्रं शीलमस्य। यह एक आध्यात्मिक भाव था जिसके कारण शिष्य गुरु के प्रति विशेष जागरुक रहकर अपना कर्तव्य पालन करने का बल प्राप्त करता था– गुरुकार्येष्ववहितः। काशिका में भी लिखा है कि वह अपने गुरु की त्रुटियों की ओर मन को ले जाकर (तच्छिद्रावरणप्रवृत्तः) कभी अपनी शक्ति का छय नहीं करता था। ब्रह्मचारी को स्नातक बनाते समय आचार्य की भावना भी यही रहती थी कि केवल मेरे सदाचरण पर ही ध्यान देना त्रुटियों पर नहीं।

छात्र दो प्रकार के होते थे– (१) दण्डमाणव (२) अन्तेवासी– दण्डमाणवान्तेवासिषु ४/३/१३०। दण्डमाणव को केवल माणव कहा जाता था ६/२/६६। वह अभी छोटी श्रेणियों में सीखतर छात्र होता था जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है वेद की पढ़ाई शुरु होने के पहले उसकी माणव संज्ञा होती है।[1] मतंग जातक में माणव को बाल कहा गया है।[2] जब वेद पढ़ने का समय आता तो आचार्य माणव का उपनयन संस्कार कराते थे, इस विशेष कर्म को आचार्यकरण कहते थे। इस संस्कार के बाद वह माणवक सच्चे अर्थो में आचार्य का सामीप्य प्रापत करता था।[3] मनसा वाचा कर्मणा आचार्य के समीप पहुँचा हुआ ब्रह्मचारी अन्तेवासी इस अन्वितार्थ पदवी को धारण करता था ४/३/१०४, ४/३/१३०। उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। भाष्य में कमण्डलु–पाणि छात्र का उल्लेख मिलता है। चरण में पढ़ने वाले सभी अन्तेवासी ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी

---

१. अनुचो माणवे ब्रह्मश्चरणाख्यायामिति ५/४/१५४ महाभाष्य

२. मतड्.ग जातक ४/३७६

३. आचार्यकरणमाचार्य क्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्य. सपद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानभाचार्यीकुर्वन्माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः
– काशिका ४/३/१०४

कहे जाते थे– चरणाद् ब्रह्मचारिणि उपनयन होने के बाद छात्र और गुरु दोनों के बीच जो नया विद्या सम्बन्ध बनता था उससे वे दोनों एक दूसरे के लिये उपस्थानीय बन जाते थे अर्थात् शिष्य गुरु के समीप आकर उसकी सेवा करे और उससे अध्ययन करे और गुरु अपने अन्तेवासी को अपने समीप लाकर शिक्षित करे। दोनों के लिये अत्यन्त मधुर सम्बन्ध बनता था। अध्यापन करने की दशा में आचार्य को अनूचान ३/२/१०६ एवं प्रवचनीय[१] ३/४/६८ कहते थे। छन्दों का अध्ययन करने वाले शिष्य की संज्ञा शुश्रूषु होती थी क्योंकि वह श्रुति के पारायण या 'श्रवणीय' को कान से सुनकर धारण करता था ३/२/१०८। अपने पिता से ही अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी पितुरन्तेवासी कहलाते थे। आचार्य कुल में आचार्य का पुत्र भी पर्याप्त महत्त्व रखता था, अतएव उसके लिये भाषा में 'आचार्य पुत्र' इस विशेष शब्द की उत्पत्ति हुयी। इसी प्रकार राजपुत्र और ऋत्विक् पुत्र भी अपने पिता की पदवी से अभिहित होते थे ६/२/१३३। स्वाभाविक है कि दूसरे शिष्य आचार्य पुत्र का विशेष सम्मान करते थे जैसा कात्यायन ने लिखा है– गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा १/१/५६ वा. १। गुरुपुत्र में भी गुरु जैसी वृत्ति उचित थी।[२]

पारायण ५/१/७२ - वैदिक शाखा ग्रन्थ या छन्दों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। कण्ठाग्र करने वाले विद्वान श्रोत्रिय कहलाते थे– श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ५/२/८४। संहिता पाठ (निर्भुज) पद पाठ (प्रतृण्ण) क्रम पाठ आदि कई प्रकार से वैदिक पारायण कहलाता था। नियमानुसार पारायण करने वाला पारायणिक होता था– पारायणं वर्तयति ५/१/७२। श्रावणी या भाद्रपद पूर्णिमा को उपाकर्म करने के बाद ४ $^{१}/_{२}$ माह तक वेद का पारायण किया जाता था। उस समय कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक था। बौधायन एवं अन्य गृह्यसूत्रों में वर्णित नियत कर्म विधि के साथ पारायण का आरम्भ किया जाता था। पारायणिक ब्रह्मचारी या श्रोत्रिय स्थण्डिल पर शयन करता था, अतएव उस समय उसे स्थाण्डिल कहते थे- (स्थण्डिलाच्छयितरि

---

१ प्रवचनीयो गुरु स्वाध्यायस्य – काशिका ३/४/६८

२. महाभारत, उद्योग पर्व, ४४/१२

व्रते ४/२/१५)। उस अवधि में वह पारायण के अतिरिक्त और कुछ न बोलने का व्रत लेने के कारण वाचंयम कहलाता था— वाचियमो व्रते ३/२/४०। उस समय अर्थात् व्रत के समय वह आहार में भी संयम करता था, कभी केवल दुग्ध पीकर ही रह जाता था उस समय उसे 'पयो व्रतयति' कहा जाता था। एक से अधिक पारायण करने की प्रथा भी थी। ऐसे लोगों को द्वैपारायणिक कहा जाता था जो जीवन में दो पारायण कर लेते थे। छात्रावस्था के बाद भी कभी कोई पारायण कर सकता था।

छन्दों को कण्ठ करना उस समय की शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अंग बन गया था। पतञ्जलि ने तो लिखा है कि पढ़ाई का आरम्भ ही वेद कण्ठस्थ करने से होता था। उसके बाद किसी का मन हुआ तो वह व्याकरण पढ़ता था। कण्ठ करते समय छात्र स्वयं बहुत परिश्रम करते थे और श्रोत्रिय लोग भी उनके साथ परिश्रम करते थे। अच्छी स्मृति वाले छात्रों को अधिक परिश्रम के बिना (अकृच्छ्र) ग्रन्थ कण्ठस्थ हो जाता था। उनके लिये भाषा में इस प्रकार का प्रयोग था— अधीयन् पारायणम्, धारयन्नुपनिषदम् — इङ्धार्यो शत्रकृच्छ्रिणि ३/२/१३०।

कुछ सूत्रों से कण्ठस्थ करने की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। एक तो जितनी बार घोखने से ग्रन्थ कण्ठस्थ होता हो उतने अध्ययन या आवृत्ति की संख्या प्रकट करने के लिये भाषा में प्रयोग थे; जैसे— पञ्चकोऽधीतः, सप्तकोऽधीतः, अष्टकः नवकः अर्थात् पांच आवृत्ति या पांच बार में जिसका अध्ययन पक्का हो उसके लिये इस प्रकार कहा जाता था, अथवा पांच प्रकार से जो अध्ययन या आवृत्ति की जाय वह भी पञ्चक कहलाती थी— पञ्च रुपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम्। दूसरी बात यह थी कि पारायण करते समय जो अशुद्धियाँ होती हैं उन्हें भी प्रकट करने के लिए भाषा में प्रयोग थे। या तो एक पद अशुद्ध निकल जाता— पदं मिथ्या कारयते, या स्वर की अशुद्धि होती— स्वरादि दुष्टम्, या बार—बार वही अशुद्धि हो जाती— असकृदुच्चारयति, मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यासे १/३/७१। अध्ययन या पारायण सुनाते समय परीक्षा—काल में जिससे जितनी अशुद्धियां हों उनकी गिनती सूचित करने वाले प्रयोग भी चलते थे।

दस तक के संख्यावाची शब्दों में दो अच् होते हैं, पर सूत्र में बह्वच् संख्या शब्दों से भी ऐसे प्रयोग बनाने का विधान है ४/४/६४, जैसे— द्वादशान्यिक, त्रयोदशान्यिक चतुर्दशान्यिक अर्थात् जो पारायण मे १२, १३ अथवा १४ अशुद्धियाँ करें। इस प्रकार छन्दों को कण्ठस्थ करने में जो कठिन परिश्रम किया जाता उसी का यह सुफल होता कि ऋग्वेद तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण जैसे महाग्रन्थों को लोग सस्वर कण्ठस्थ कर लेते थे और पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी रक्षा करते रहते थे।

वृत्त ७/२/२६

किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति 'वृत्त' कहलाती थी— णेरध्ययने वृत्तम् ७/२/२६ जैसे— देवदत्त ने कहॉ तक पढ़ा है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता था— वृत्तो गुणो देवदत्तेन अर्थात् देवदत्त ने व्याकरण में गुण प्रकरण पढ़ कर समाप्त लिया है, वृत्तं पारायणं देवदत्तेन — देवदत्त ने वैदिक पारायण समाप्त कर लिया है। इस प्रकार या तो ग्रन्थ के नाम से या विषय के नाम से अध्ययन की प्रगति सूचित करने के दो ढंग भाषा के प्रयोग में चलते थे।

वर्ष भर के पाठ्यक्रम का विभाग ऋतुओं के अनुसार किया गया था ४/२/६३। प्रत्येक ऋतु में जो विषय पढ़ाये जाते हैं उनका संकेत ऋतु के नाम से सूचित किया जाता था और उसके अध्येता छात्र भी उसी नाम से पुकारे जाते थे, जैसा— 'वसन्त' संज्ञक ग्रन्थ से वासन्तिक छात्र, वर्षा के वार्षिक आदि। इस सूची में ग्रीष्म का नाम नहीं है। सम्भवतः आजकल की तरह उस समय भी ग्रीष्म या जेठ—आषाढ़ के तपते महीनों में पढ़ाई बन्द रहती थी।

साहित्य

प्रकथन १/३/३२ -

एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है। यह एक प्रकार की आशु कविता थी, जैसे—गाथाः प्रकरुते। काशिका से हमें ज्ञात होता है कि गाथाकार से तत्काल ही छन्दोबद्ध कविता करने की आशा की जाती थी। परिप्लव आख्यान में कहा गया है कि वीणागाथी अथवा वीणागणगिन् अपनी बनाई हुई गाथाओं को वीणा पर गाता था।[१] गै धातु से जिस गाक शब्द की व्युत्पत्ति सूत्र में की गई है, उसका सम्बन्ध मूल में गाथाकार से ही ज्ञात होता है।

लिपिकर ३/२/२१

पाणिनि के समय में लिपि का ज्ञान या प्रचार इस देश में था या नहीं, इसे पश्चिमी लेखकों ने विवाद का विषय बना दिया है। वैसे अष्टाध्यायी में स्वयं ऐसे दृढ़ प्रमाण है, जिससे इस प्रकार की शंका का उत्थान ही अनावश्यक है। उस समय की शिक्षा पद्धति मौखिक पारायण पर आश्रित थी, लिखित ग्रन्थों का अधिक प्रचलन नहीं था लेकिन यह कहना कि लिपि का ज्ञान ही लोगों को नहीं था तथ्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता है।

लिपिकर का दूसरा उच्चारण लिबिकर भी ३/२/२१ सूत्र में दिया है। मौर्य युग में लिपि शब्द लिखने के लिये प्रयुक्त होता था। तीसरी शती ई. पू. में अशोक ने अपने स्तम्भ लेख और शिलालेखों को धम्मलिपि या ध्रम दिपि कहा है। लघु शिलालेख सं. दो में लेख खोदने वाले को लिपिकर कहा गया है। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग किया है।[२] अर्थशास्त्र में सांकेतिक लिपि को संज्ञा लिपि कहा गया है।[३] इस प्रकार से स्पष्ट है कि पाणिनि काल में लिपि का अर्थ लेखन क्रिया एवं लेखन चिह्न थे।

---

१. स्वय संभृता गाथा गायति, शतपथ ब्राह्मण १३/४/३/५

२. अर्थशास्त्र १/५

३. अर्थशास्त्र १/१२

पाणिनि ने पशुओं के कान पर स्वामित्व के ज्ञापक कुछ चिन्ह अंकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है, कई चिन्हों में अष्ट और पञ्च भी हैं जो ८ एवं ५ संख्या के लिये प्रयुक्त चिह्न थे। अनपढ ग्वाले भी इन चिह्नों को देखकर पहचान लेते थे, इससे उनका व्यापक प्रचार सिद्ध होता है।

इष्ट ४/२/७

साहित्यिक रचना के लिये जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसका संकेत करते हुये सूत्रकार ने अपने समकालीन साहित्य का वर्गीकरण किया था, उन्होने समस्त साहित्य को इष्ट प्रोक्त उपज्ञात, कृत और व्याख्यान इन रुपों मे बाँट दिया है।

ऋषियों ने जिस साहित्य का प्रत्यक्ष किया था उसे 'इष्ट' वर्ग में रखा जा सकता है। पाणिनि ने विशेष रुप से सामवेद के गान सूक्तों का इस प्रसङ्ग में नामोल्लेख किया है जैसे– कालेय साम ४/२/८ और वामदेव साम ४/२/६। ऋग्वेद संहिता का भी आचार्य को परिचय अवश्य था। ऋग्वेद के सूक्त ५/२/५६, अध्याय और अनुवाकों ५/२/६० का उन्होंने उल्लेख किया है।

व्याख्यान

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्या तव्यनामनः ४/३/६६ धार्मिक और लौकिक विषयों के फुटकर ग्रन्थों पर विरचित व्याख्यान ग्रन्थ इस श्रेणी के साहित्य में आते थे। ये कुछ मौलिक रचनायें न थीं, वल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इनकी रचना उस समय बड़े वेग से हो रही थी, जैसे वैदिक अध्यायों और मन्त्रों के अर्थ समझाने के लिये, या उसके विभिन्न पाठों की युक्ति बताने के लिये, या यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिये या वेदाङ्ग सम्बन्धी विषयों के व्याख्यान के लिये अथवा दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष, अंकविद्या आदि फुटकर विद्याओं को स्पष्टता से समझाने के लिये। इस साहित्य का उद्देश्य उन उदाहरणों से स्पष्ट होता है, जो स्वयं पाणिनि ने इस प्रकरण में दिये हैं, जैसे– सोम क्रतुओं के व्याख्यान ग्रन्थ अथवा

पुरोडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ या पुरोडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ या पुरोडाश सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ अथवा नामिक और आख्यातिक जैसे व्याकरण सम्बन्धी व्याख्यान ग्रन्थ। एक प्रकार वर्तमान पद्धतियो के ढंग की पुस्तकें रही होंगी। व्याख्यान साहित्य के निर्माण में बहुत से छोटे–छोटे लेखक भी अपनी–अपनी विद्या एवं बुद्धि के अनुसार भाग ले रहे थे जैसा कि उत्पात, निमित्त आदि अति सामान्य विषयों पर लिखे गये ग्रन्थो से ही सूचित होता है। निमित्तों का व्याख्यान ग्रन्थ नैमित्त और उन्हें बताने वाला व्यक्ति नैमितिक कहा जाता था। उस समय नक्षत्रों के फलाफल का विचार करना, हस्त रेखा देखना या ज्योतिष की सहायता से भविष्य कथन करना इन बातों में भी लोगों की काफी रुचि हो गई थी जैसा कि जातक कहानियों से विदित होता है। पाणिनि ने इस तरह की पूछताछ को विप्रश्न कहा है। 'राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १/४/३६' सूत्र तत् सम्बन्धी भाषा प्रयोगों का उल्लेख किया गया है जैसे– देवदत्ताय राध्यति, देवदत्ताय ईक्षते।[1]

कृत ४/३/८७, ४/३/११६

इस श्रेणी के साहित्य में साधारण ग्रन्थों का समावेश किया गया, जिनका नामकरण या तो उनके विषय से– अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४/३/८७ या लेखक के नाम से– कृते ग्रन्थे ४/३/११६ होता था। अनुष्टुप् श्लोक और उसके साथ श्लोककार ३/२/२३ कवि के उदय का फल यह हुआ कि शीघ्र ही काव्य और नाटकरूपी साहित्य का जन्म होने लगा। यह सब साहित्य कृत कोटि का था। उदाहरणार्थ– सौभद्र (सुभद्रा के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ), यायात (ययाति के उपाख्यान पर आश्रित), वारुरुचाः श्लोकाः (वररुचि के बनाये श्लोक) ये सब काशिका में उद्घृत कृत साहित्य के उदाहरण हैं। स्वयं पाणिनि ने शिशुक्रन्दीय, इन्द्रजननीय, यमसभीय इन तीन कृत ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

कृत और उपज्ञात में भेद यह था कि कृत वह ग्रन्थ था जिसे किसी

१. नैमितिक. पृष्टः सन् देवदत्ताख्य दैवं पर्यालोचयति। – काशिका १/४/३६

लेखक ने विरचित किया, किन्तु उपज्ञात ग्रन्थ विशेष न होकर उस शास्त्रीय विषय के लिये प्रयुक्त होता था, जिसकी प्रथम बार उद्भावना किसी मेधावी आचार्य ने की हो, जैसे— पाणिनीय व्याकरण शास्त्र। हम पाणिनि की अष्टाध्यायी को पाणिनीय व्याकरण तो कह सकते, पाणिनीय ग्रन्थ नहीं कह सकते। उपज्ञात ग्रन्थ व्यक्तिविशेष से प्रोक्त और उपदिष्ट होता था, किन्तु उसका नाम उस विषय के नाम से पड़ता था, जिसका उपदेश या प्रवचन उसमें किया गया हो। शास्त्रीय नाम के पहले उपज्ञाता आचार्य के नाम से बना हुआ विशेषण प्रयुक्त किया जाता था, जैसे— पाणिनीय व्याकरण।

प्रोक्त ४/३/१०१

वह साहित्य जिसके निर्माण में वैदिक चरणों के संस्थापक ऋषियों ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत छन्द ग्रन्थ अर्थात् वेदों की पृथक्–पृथक् शाखायें थीं ४/२/६६ उदाहरणार्थ— तैत्तिरीय चरण की शाखा ४/३/१०२ कठों की शाखा ४/३/१०७, कालापों की शाखा ४/३/१०८ एवं अन्य भी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ जिनका चरणों में विकास हुआ— पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु ४/३/१०५। प्रोक्त ग्रन्थ का सम्बन्ध चरणों के अन्तर्गत उनके पढ़ने एवं पढ़ाने वालों से था। यह सम्बन्ध मूल छन्द या शाखा ग्रन्थ से ही आरम्भ हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थों के विकास के साथ उनमें भी तद्विषयता का नियम लागू हुआ। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय चरण के अन्तर्गत मूल तैत्तिरीय शाखा और तैत्तिरीय ब्राह्मण का नाम अपने चरण के नाम से पड़ा। कालक्रम से आरण्यक और उपनिषद् भी रचे गये। साहित्य एवं रचना की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण साहित्य के ही अन्तरंग भाग थे। इसलिये उनके नामकरण की ही पृथक समस्या का अनुभव नहीं हुआ। वे भी तद्विषयता नियम के ही अन्तर्गत आ गये।

तीसरे प्रकार के प्रोक्त ग्रन्थ कल्प या श्रौत सूत्र थे जिनकी गणना वेदाङ्गों में की गई। कात्यायन और पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है कि चरण ग्रन्थों में जो तद्विषयता का नियम लागू था, वह काश्यप और कौशिक द्वारा

प्रोक्त कल्पग्रन्थों में ही मान्य हुआ, जैसा कि पाणिनि ने स्वयं उसकी ऋषि पदवी से सूचित किया है।[1] ऋषि कश्यप और कौशिक द्वारा स्थापित चरण काश्यपिनः एवं कौशिकिनः कहलाते थे एवं ये चरण कल्पसूत्रों तक सीमित थे, अर्थात् इन ऋषियों ने किसी शाखा या ब्राह्मण का प्रवचन न करके कल्पसूत्र का ही प्रवचन किया था।[2] प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि ने दो प्रकार के सूत्रग्रन्थों का विशेष उल्लेख किया है, अर्थात् पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षु सूत्र और शिलालिन् एवं कृशाश्व के नट सूत्र ४/३/११०—१११। यह बात कुछ आश्चर्यजनक है कि तद्विषयता का जो नियम केवल छन्द और ब्राह्मण ग्रन्थों में लागू था, वही भिक्षुसूत्र और नट सूत्र जैसे लौकिक विषयों का निरुपण करने वाले ग्रन्थों में भी लागू हुआ।[3] पाराशर्य और शैलालक चरणों का मूल में सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ था, अर्थात् उनमें ऋग्वेद की शाखा एवं ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन होता था। ज्ञात होता है कि कुछ काल पश्चात् जब नये—नये विषयों की उद्भावना हुयी, तब पाराशर्य चरण के आचार्यों ने भिक्षुसूत्र अर्थात् वेदान्त सूत्र के अध्ययन की नींव डाली और शिलालिचरण के आचार्यों ने नटसूत्रों का निर्माण किया। ये दोनों ही विषय महत्त्वपूर्ण और लौकिक थे। यदि इनका मूल सम्बन्ध वैदिक चरणों से न होता तो पाणिन्यादि कृत शास्त्रों का जिस प्रकार नामकरण हुआ उसी प्रकार उनका भी नाम पड़ता है। इन नये विषयों को उन दोनों चरणों के आचार्यों ने इतने उत्साह से ग्रहण किया कि उनसे सम्बन्धित वैदिक ग्रन्थों का नाम लुप्त हो गया। उनकी कीर्ति केवल इन नये विषयों के कारण ही लोक में प्रथित हुई, अथवा यह भी सम्भव है कि इनके ग्रन्थों में ठीक वही मौलिकता न रही हो और किसी अन्य वैदिक चरण की शाखा को ही आचार्य शिलाली पढ़ते—पढ़ाते रहे हों, किन्तु जिस विषय में आचार्य शिलालि ने स्वतंत्र अन्वेषण किया और अपनी प्रतिभा से नये विषय का प्रवचन किया वह नटसूत्र या नाट्य का

---

१. काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः— भाष्य ४/३/१०३।

२. काश्यप कौशिक ग्रहण च कल्पे नियमार्थम् ४/२/६६ वा. ६

३. पाराशरिणो। भिक्षव. शैलालिनो नटा.। —महाभाष्य। इस पर सभी टीकाकार सहमत हैं कि पाराशरिणः और शैलालिन. ये दो चरणों के नाम थे अर्थात् गुरु—शिष्य पारम्पर्य के द्योतक थे जिनका संगठन ठीक वैदिक चरण संस्थाओं केआदर्श पर था।

विषय थी। यह भी अनुमानित किया जा सकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य के समीप में जिज्ञासु शिष्य वैदिक ग्रन्थ पढने के लिये न आये होंगे, बल्कि आचार्य द्वारा उपज्ञात नाट्यशास्त्र के अध्ययन के लिये ही उपस्थित हुये होंगे।

पाराशर्य एवं शिलालि के अतिरिक्त पाणिनि ने कर्मन्द और कृशाश्व नामक दो अन्य आचार्यो का भी उल्लेख किया है। कर्मन्द ने भिक्षुसूत्र और कृशाश्व ने नटसूत्रों की रचना की थी, एवं उनके पढ़ने–पढ़ाने वाले गुरु–शिष्यों की परम्परा चरण रुप में संगठित हुई थी। कर्मन्द और कृशाश्व के विषय में यह ज्ञात नहीं कि उनका सम्बन्ध किस वेद से था। आचार्य शिलालिन् के नटसूत्रों के विषय में अनुमान होता है कि उन्हीं की मूल सूत्र–सामग्री का सन्निवेश प्रस्तुत भरत–नाट्य शास्त्र में कर लिया गया और नाट्यशास्त्र का वर्तमान स्वरुप आचार्य भरत द्वारा उसी प्रकार प्रतिसंस्कृत हुआ। जिस प्रकार अग्निवेश का आयुर्वेद तन्त्र चरक द्वारा।

उपज्ञात ४/३/११५

उपज्ञात कोटि में उस साहित्य का परिगणन था, जिसका किसी विशिष्ट आचार्य ने पहली बार आविर्भाव किया हो। इस प्रकार के प्रयत्न को आद्य आचिख्यासा कहते थे २/४/२१। आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि और काशकृत्स्न जैसे महान् आचार्यों की कृतियाँ इस श्रेणी में आती थीं। प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत ही उपज्ञात संज्ञक विशेष साहित्य था। छन्द या शाखा ग्रन्थ केवल प्रोक्त थे, उपज्ञात नहीं, क्योंकि प्रवचनकर्ता ऋषियों ने कुछ नयी मौलिक सूझ से उन वैदिक ग्रन्थों का आविर्भाव नहीं किया था। जो मूल संहितायें थीं, उन्हीं में फेर–फार करके उन्होने शिष्यों को उनका अध्यापन कराया था। इसी लिये एक ही वेद की कई शाखायें परस्पर बहुत मिलती हैं, किन्तु पाणिनि का ग्रन्थ प्रोक्त भी था और उपज्ञात भी। पाणिनिना प्रोक्तम्, पाणिनिना उपज्ञातम् दोनों ही प्रकार से पाणिनि प्रोक्त नये व्याकरण शास्त्र के लिये पाणिनीय यह नाम सङ्गत हुआ। सङ्क्रान्ति काल में कुछ ऐसी स्थिति

स्वाभाविक भी थी कि नूतन ग्रन्थों में कुछ प्रोक्त शाखा ग्रन्थों और कुछ उपज्ञात ग्रन्थों के एक साथ लागू हों। उदाहरण के लिये, पाणिनि के नये शास्त्र में प्रोक्त ग्रन्थ वाली बात तो यह थी कि उसकी भी गुरु–शिष्य परम्परा उसी प्रकार प्रवर्तित हुई जिस प्रकार छन्दोग्रन्थ की थी। दूसरी तरफ उपज्ञात लक्षण यह था कि यहाँ पर पाणिनि का स्वतंत्र कर्तृत्व माना गया। तद्विषयता का नियम पाणिनि के व्याकरण के लिये लागू नहीं हुआ अन्यथा पाणिनि के नाम से उसका नाम नहीं हो सकता था। नये–नये विषय और उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ चरणों के बाहर अस्तित्व में आ रहे थे, जिनकी रचना में उनके लेखकों ने महान् प्रयत्न किया था। उनके कर्तव्य का भी लोगों को तथ्यात्मक परिचय था। अतएव यह सम्भव नहीं था कि उनका नामकरण उनके प्रवक्ता या उपज्ञाता अर्थात् मौलिक रचयिताओं के नाम से न हो। यास्क, शाकटायन, पाणिनि आदि इसी श्रेणी के उपज्ञाता आचार्य थे।[1]

इसी विषय में यह एक बात और ध्यातव्य है कि पाणिनि प्रोक्त शास्त्र पाणिनीय हुआ, फिर उस पाणिनीय शास्त्र के पढ़ने–पढ़ाने वाले (अध्येतृ–वेदितृ) भी पाणिनीय कहलाये। पाणिनि शब्द से प्रोक्त प्रत्यय– पाणिनि + ईय लगाने के बाद तदधीते तद्वेद अधिकारान्तर्गत यथा विहित अध्येतृ–वेदितृ प्रत्यय लगाया गया– पाणिनि + ईय (प्रोक्त) + ईय (अध्येतृ वेदितृ)। इस स्थिति में प्रोक्ताल्लुक् से दूसरे ईय प्रत्यय का लुक् हो जाता है और पाणिनीय यही शब्द पाणिनि के ग्रन्थ और गुरु–शिष्य पारम्पर्य अर्थात् पढ़ने–पढ़ाने वालों का भी बोध कराता था। शिक्षण संस्था की दृष्टि से पाणिनीय सदृश ग्रन्थों में और चरण साहित्य के ग्रन्थों में बहुत अन्तर था। शाखा पर आश्रित चरणों का जो नियमित संगठन था वह नये शास्त्रों को प्राप्त न था। फिर पाणिनीय शास्त्र के पढने वाले सभी पाणिनीय विद्वान् किसी एक ही वैदिक चरण से सम्बन्धित हो यह भी आवश्यक न था। बल्कि भाष्यकार पतञ्जलि ने तो स्पष्ट लिखा है कि उनका सम्बन्ध सभी चरणों से समान था– सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।

---

१. पाणिनिना उपज्ञातं, पाणिनीय व्याकरणाम्, उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्; पाणिनेरुपज्ञानेन प्रथमत प्रणीतम् पाणिनीयम् – काशिका २/४/२१।

नव निर्मित सूत्र ग्रन्थों के अध्येता छात्रों का नाम ग्रन्थों की अध्याय संख्या से भी पड़ता था जैसे– अष्टकाः, दशकाः त्रिकाः अर्थात् पाणिनीय, वैयाघ्रपदीय और काशकृत्स्न शास्त्रों के पढ़ने वाले छात्र – "सूत्राच्चकोपधात् ४/२/६५ पाणिनीयमष्टकं सूत्रं तदधीते अष्टकाः पाणिनीयाः, दशकाः वैयाघ्रपदीयाः, त्रिका काशकृत्स्नाः।" आठ अध्याय होने के कारण पाणिनि का ग्रन्थ अष्टक कहलाया। इसी प्रकार उस अष्टक के पढ़ने वाले छात्र अष्टकाः कहलाये। यहाँ पर भी पाणिनीयम् – पाणिनीयाः जैसी दो कोटियां थीं– अष्टकम्–अष्टकाः। पहले ग्रन्थ का नाम एवं फिर पढने वालों का नाम। ग्रन्थ की रचना में विशेष प्रयत्न और परिष्कार इस युग में किया गया, जिसके कारण ग्रन्थों का स्वरुप इतना साफ–सुथरा और सुविभक्त होता था। उसी पृष्ठभूमि में संख्या शब्दों को ग्रन्थों के नामकरण में इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। अध्याय, पाद, सूत्र के साँचे में ग्रन्थ को ढालने अथवा कुशल तक्षक की भांति अपनी सामग्री को संवार कर उस रुप में ले आने में ग्रन्थकर्ता जो महान् प्रयत्न करते थे, उसका गौरव संख्या शब्दों को प्राप्त हुआ। तभी भाषा में इस प्रकार के नामों की आकांक्षा हुई। यह कौन सा सूत्र ग्रन्थ है ? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहा जाता था– यह अष्टक है। अर्थात् आठ अध्यायों में इसके रचयिता आचार्य ने इसकी सामग्री का बन्धन बांधा है। इसी प्रकार जब प्रश्न किया जाता था कि आप लोग कौन हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थी कहते थे– हम अष्टक हैं, अर्थात् आठ अध्यायों वाला जो सूत्र ग्रन्थ है, हम उसका अध्ययन करने वाले हैं। ग्रन्थों के आन्तरिक शिल्प या वास्तु–विधान को ऐसा महत्व किसी अन्य युग में प्राप्त नहीं हुआ। ब्राह्मण काल के अन्त में ही अध्यायों के सम्बन्ध की संख्याओं के महत्त्व की यह व्यञ्जना शुरु हो गई थी। इसी कारण साठ अध्यायों वालें ग्रन्थ के लिये षष्टिपथ और सौ अध्यायों वाले ग्रन्थ के लिये ही शतपथ, तीस अध्यायों वाले कौषीतकी के लिये त्रैंश एवं चालीस अध्यायों वाले ऐतरेय के लिये चात्वारिंश जैसे नाम पड़े।

सप्तम-सोपान

सप्तम्-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित भूगोल

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यन्न उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द सामग्री का सञ्चय किया उसमें देश, पर्वत, वन, नदियाँ, प्रदेश, जनपद, नगर, ग्राम इनसे सम्बन्धित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री की संग्रह सूत्रकार की मौलिक सूझ थी। मध्य एशिया से लेकर कलिंग तक एवं सौवीर (आधुनिक सिन्ध) से लेकर पूर्व में असम प्रान्त के सूरमस (वर्तमान सूरमा) नदी प्रदेश तक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रों के स्थान नाम अष्टाध्यायी में पाये जाते हैं। इस प्रकार की सामग्री का सङ्कलन निश्चित उद्देश्य और व्यवस्था के आधार पर किया गया है। एक ओर जहाँ उससे पाणिनि के व्यापक ज्ञान और परिश्रम की सूचना मिलती है, वहाँ दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि जिस भाषा का व्याकरण पाणिनि लिख रहे थे उसके प्रचार का क्षेत्र कितना विस्तृत था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि जीवन के व्यवहार में देश के चारों कोनों का आपस में गहरा सम्बन्ध था। सिन्धु नदी के समीप शलातुर ग्राम में जन्म लेने वाले सूत्रकार को सूरमस, कलिंग, अश्मक, कच्छ, सौवीर—पूर्व से पश्चिम तक बिखरे हुए इन प्रदेशों के विषय में अच्छी जानकारी थी। कहॉ का शासन किस प्रकार का था, कहाँ के नागरिक स्त्री—पुरूषों का देश के अनुसार क्या नाम पड़ता था, इस प्रकार की सूचना आवागमन का घनिष्ठ सम्बन्ध हुए बिना सम्भव नही। पाणिनि सूत्रों का अध्ययन इस समय प्रायः सम्पूर्ण देश मे किया जाता है। भौगोलिक नाम भी उसी के साथ आते है।

भौगोलिक सीमा विस्तार

देश एवं जनपद

सूत्रों में पठित निश्चित स्थान नामों की सहायता से पाणिनि कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। सूत्रकाल में जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में युग विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण महाजनपद युग है। इस समय सारा देश जनपदों में बँटा हुआ था।

जनपदों का जो विस्तार फैला हुआ था, उसमें एक जनपद को दूसरे जनपद से अलग करने वाली नदी–पर्वत आदि की प्राकृतिक सीमाएं थी एवं दो बड़े जनपदों के बीच में छोटे–छोटे जनपद भी सीमाएं बनाते थे। काशिकाकार ने लिखा है कि एक जनपद की सीमा दूसरा जनपद ही हो सकता है, गाँव नहीं।[१]

संस्कृत भाषा का यह नियम है कि जनपद वाची नाम सदा वहुवचन में आते हैं जैसे – पञ्चालाः, कुरुवः, मत्स्याः, अङ्गाः, वङ्गाः, मगधाः आदि। जनपद या जातीय भूमियों के इतिहास में तीन अवस्थाएं देखी जाती हैं। सबसे पहले घुमन्तू कबीलों का युग था, वे जन कहलाते थे। एक जनपद के सदस्य आपस में रक्त सम्बन्ध में बँधे थे। घुमन्तू जन समय पाकर स्थान – विशेष पर वस गया। उसका वह पद या ठिकाना जनपद कहलाया। अष्टाध्यायी मे जिन देशों जनपदों के नाम आये हैं उनका विवरण इस प्रकार हैं –

मद्रकार

अष्टाध्यायी में मद्र और भद्र दोनों पर्यायवाची शब्द हैं २/३/७३, ५/४/६७। मद्रकार का ही दूसरा नाम भद्रकार ज्ञात होता है। सम्भव है

१ जनपदतदवध्योश्च। तदवधिरपि जपनद एव गृह्यते न ग्राम.। – काशिका ४/१/१२४

घग्घर के तट पर वीकानेर के उत्तर–पूर्वी कोने में स्थित भद्र नामक स्थान मद्रकारों की प्राचीन राजधानी रही है।

मद्रकार में 'कार' शब्द प्राचीन ईरानी भाषा का है जिसका अर्थ 'सेना' था। मद्रकार का अर्थ हुआ मद्रों के सैनिकों द्वारा प्रतिस्थापित राज्य।

सौवीर ४/१/१४८

वर्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कॉठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरूव (संस्कृत रौरूक) वर्तमान रोड़ी है। यहाँ पुराने शहर के भग्नावशेष हैं। रोड़ी के उस पार सिन्धु के दाहिने किनारे का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है जिसका पुराना नाम 'शार्कर' था जो पाणिनि के शर्करायाः वा ४/२/८३ सूत्र में आया है।

पाणिनि ने सौवीर जनपदों के नगरों के नाम बनाने का भी उल्लेख किया है।[1] इसका उदाहरण काशिका में दत्तामित्र की वसाई हुई दात्तामित्री (दत्ता मित्रेण निर्वृत्ता) नगरी है। यह उदाहरण पाणिनि से बाद का है। भारत के यूनानी राजा दिमित्रियस का संस्कृत नाम दत्तामित्र[2] कहा जाता है। उसने एक ओर सिन्धु तक का देश जीत लिया था और दूसरी ओर पुष्यमित्र शुंग से भी उसका युद्ध हुआ था। महाभारत आदि पर्व का यवनाधिप दत्तमित्र यही है जिसने तीन वर्ष में गन्धर्व (वर्तमान गन्धार) देश जीतकर फिर सौवीर देश जीत लिया था। पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार महाभारत का यह श्लोक क्षेपक ठहरा है।

धूमादि गण में सौवीर जनपद के कूल या समुद्री तट का उल्लेख है (कूलातसौवीरेषु ४/१/१२७) यह कोटरी से लकर समुद्र तक तक फैले हुए सिन्ध के मुहाने या नदीमुख का पुराना नाम था।

---

१. स्त्रीषु सौवीर साल्वप्राक्षू ४/२/७६

२. इसी का नाम प्राकृत में दिमित्र या दिमित था। दत्ता मित्री नगरी के निवासी दानदाता का उल्लेख नासिक गुफा के लेखो में 'दातामित्रीयक' नाम से हुआ है।
ल्यूडर्स कृत ब्राह्मी लेख – सूची सं. ११४४

गन्धार

पाणिनि ने इस जनपद का अधिक पुराना नाम गान्धारि ४/१/१६६ सूत्र में दिया है। वहाँ के राजा और उनके पुत्र दोनों गान्धार कहलाते थे। बाद का नाम गन्धार गणपाठ में मिलता है। यूनानी नाम 'गंदराइ' और 'गंदराइति' गान्धारि के निकट हैं। ज्ञात होता है कि गान्धारि मूल में जन की संज्ञा थी जिससे जनपद का नाम 'गान्धारि' हुआ। गन्धार महाजनपद काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। पश्चिमी गन्धार की राजधानी पुष्कलावती थी जहॉ स्वात और काबुल नदी के संगम पर वर्तमान चारसद्दा है। सुवास्तु और गौरी नदियों के बीच में उड्डियान (प्राचीन उर्दि देश) था, जो गन्धार का ही एक भाग था। यहाँ के बने हुए कम्बल पाण्डुकम्बल कहलाते थे जो पाणिनि के अनुसार (४/२/११) रथ मढ़ने के काम आते थे।

मगध ४/१/१७०

गंगा के दक्षिण का प्रदेश मगध जनपद था जहाँ राजतन्त्र शासन था।

सूरमस ४/१/१७०

यह नाम केवल अष्टाध्यायी में आया है, ज्ञात होता है कि असम प्रान्त में प्रसिद्ध सूरमा नदी की दून और पर्वत उपत्यका का प्राचीन नाम सूरमस था।

कलिङ्ग ४/१/१७०

कलिङ्ग पाणिनि के समय में जनपद राज्य था, किन्तु सोलह महाजनपदों की सूची में उसकी गिनती नहीं है।

कोशल ४/१/१७१

यह राजाधीन जनपद बुद्धकालीन षोडश महाजनपदों मे गिना जाता था। पाणिनि ने उससे सम्बन्धित सरयू और इक्ष्वाकु ६/४/१७४ का भी उल्लेख किया है।

अजाद ४/१/१७१

इस जनपद का नाम केवल अष्टाध्यायी में मिलता है। नाम से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश बकरियों के लिए प्रसिद्ध रहा होगा। इटावा क्षेत्र आज तक जमनापारी बकरियों की नस्ल क लिए प्रसिद्ध है सम्भव है यही अजाद रहा हो।

कुरू ४/१/१७२

कुरू राष्ट्र, कुरूक्षेत्र और कुरूजांगल ये तीन क्षेत्र एक दूसरे से लगे हुए थे। थानेश्वर हस्तिनापुर – हिसार अथवा गंगा–यमुना–सरस्वती के बीच का प्रदेश इन तीन भौगोलिक भागों में बँटा हुआ था। गंगा–यमुना के बीच में लगभग सम्पूर्ण मेरठ मण्डल असली कुरू राष्ट्र था, इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पाणिनि ने इसे हास्तिनुपर ६/२/१०१ कहा है। पाणिनि विशेष रूप से 'कुरू गार्हपतम्' रूप की सिद्धि की है ६/२/४२। इस विशेष शब्द का अर्थ कुरू जनपद का वह धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार गृहस्थ जीवन में रहते हुए लोग सदाचार और धर्म का पूरा पालन करते थे। इस दार्शनिक दृष्टिकोण का परिचय कुरूधम्म जातक के शील में और गीता के कर्म प्रधान नीति धर्म में प्राप्त होता है। दानों कुरू जनपद के साथ सम्बन्धित हैं। जातक में इसे ही कुरूवत्त धम्म कहा गया है।

प्रत्यग्रथ ४/१/१७३

महाभारत में यह नाम नहीं मिलता और पाणिनि व्याकरण में पंचाल नाम नहीं है। मध्यकालीन कोशों के अनुसार पंचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी।[1]

साल्व ४/१/१७३ - पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे साल्व ४/२/१३५, साल्वेय ४/१/१६६, साल्वायव ४/१/१७३ इन तीनों को अलग–अलग

---

१. हेमचन्द्र अभिधानचिन्तामणि–प्रत्यग्रथास्तु अहिच्छत्राः साल्वास्तु कारकुक्षीयाः ४/२६। वैजयन्ती पृष्ठ २१४

जनपद कहा है जो राजाधीन थे। इनमे साल्व मूल राज्य था। साल्वेय साल्वों की कोई शाखा थी। साल्वेय का ही दूसरा नाम साल्वपुत्र था। साल्वायव इधर – उधर छिटके हुए उन छोटे – मोटे रजवाड़ों का समूह था जिनकी स्थापना साल्वों में से ही कुछ लोगों ने छिटपुट रूप से कर ली थी। ये राज्य पञ्जाब के मध्य भाग और उत्तर पूर्व में बिखरे हुए थे और भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ सटे हुए न थे।

साल्व जनपद कहाँ था ? इसकी ठीक पहचान प्राचीन भारतीय भूगोल का अनिश्चित परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न है। गोपथ ब्रह्मण में (१/२/६) साल्व और मत्स्य इन दो जनपदों का जुड़वाँ उल्लेख है जिससे इन्हें पड़ोसी मानना होगा। महाभारत में भी साल्व माद्रेय और जाङ्गल इनका एक साथ नाम लिया गया है[1], जिससे इतना संकेत अवश्यक मिलता है कि साल्वों की स्थिति उत्तरी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब में कहीं थी। उपरोक्त नामों में से मत्स्य का स्थान निश्चित है, इसकी राजधानी विराट थी जो जयपुर में वर्तमान वैराट स्थान है। जाङ्गल से तात्पर्य कुरूजाङ्गल से था जिसके अन्तर्गत दक्षिण पूर्वी पंजाब में हाँसी – हिसार – सिरसा का बड़ा क्षेत्र था। मत्स्य-और जांगल इन दो जनपदों की भूमि को यदि छोड़ दें तो साल्व की पहचान के लिए अलवर से उत्तरी बीकानेर तक का फैला हुआ प्रदेश बचा रहता है। वस्तुतः यही प्रदेश प्राचीन साल्व ज्ञात होता है। इसी का वह भाग जो साल्वेय या साल्वपुत्र कहलाता था, अलवर के आस–पास होना चाहिए। सम्भवतः अलवर में उस नाम का कुछ अंश सुरक्षित रह गया है।

साल्वायव

काशिका में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक के अनुसार साल्वायव राजतन्त्र के अन्तर्गत छः रजवाडे थे – (क) उदुम्बर (ख) तिलखल (ग) नद्रकार (घ) युगन्धर (ङ.) भूलिङ्ग (च) शरदण्ड। इन नामों की पहचान क्रमशः निम्नलिखित है।

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व १०/३

(क) उदुम्बर

उदुम्बरों का उल्लेख पाणिनि के राजन्यादि गण ४/३/५३ में अया है। उदुम्वरों के पुराने सिक्के काँगड़ा (प्राचीन त्रिगर्त) देश में व्यास और रावी नदियों के बीच में पाये गये हैं। कॉगड़ा के मुहाने पर पठान कोट नगर में भी उदुम्बर मुद्राएं बहुतायत से मिली है।[1] इस पुरातात्त्विक प्रमाण से उदुम्बरों का प्रदेश निश्चित हो जाता है। व्यास के उत्तर और रावी के दक्षिण की सॅकरी घटी में त्रिगर्त के प्रवेश द्वार (वर्तमान गुरदासपुर) में उदुम्बरों का राज्य था। पतञ्जलि ने उदुम्बरावती नदी का उल्लेख किया है (४/२/७१)। यह इसी प्रदेश की कोई छोटी नदी होनी चाहिए जिसके तट पर उदुम्बरों की राजधानी रही होगी।

(ख) तिलखल

उदुम्बर भू–भाग के मानचित्र पर दृष्टि डालने से व्यास नदी के दक्षिण के प्रदेश (जिला होशियारपुर) में, जहाँ आज भी तिलों की खेती का प्रधान क्षेत्र है, तिलखल राज्य का स्थान ज्ञात होता है। व्याकरण का तिलखल और महाभारत के भीष्मपर्व १०/५१ का तिलभार दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। तिलखल का अर्थ है तिलों से भरे हुए खलिहानों का देश और तिलभार का अर्थ भी जहाँ तिलों के बोझ खलिहान से घर लाये जॉय।

मद्रकार - पूर्व में व्याख्यायित है।

युगन्धर - योगन्धरिरेव नो राजा इति साल्वीरवादिषुः।

विवृतचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव।।

अर्थात् यमुना के किनारे बैठी साल्वी स्त्रियां चर्खा चलाती हुई कहती थी कि हमारा राजा यौगन्धरि है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि युगन्धर यमुना का तटवर्ती था। यह राज्य सम्भवतः अम्बाला जिले मे

---

१. एंलन, प्राचीन भारत की मुद्राएं, प्रस्तावना पृ० ८७।
२. प्रशिलुस्की, 'पञ्जाब की एक प्राचीन जाति– साल्व'

सरस्वती से यमुना तक फैला हुआ था। देहरादून जिले में कालसी के पास जगत् ग्राम में प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि वह क्षेत्र युग शैल देश (युग नाम का पहाड़ी प्रदेश) कहलाता था।

भूलिंग

तोल्मी ने लिखा है कि अरावली के उत्तर पश्चिम में बोलिंगाई जाति रहती थी। इनकी पहचान भूलिङ्गों से हो सकती है।

शरदण्ड

वाल्मीकि रामायण[1] में लिखा है कि अयोध्या से केकय के मार्ग पर जाते हुए कहीं शरदण्डा नदी पार करनी पड़ती थी उसी शरदण्डा के तट पर सन्निविष्ट होने के कारण साल्वों के एक अवयव का नाम शरदण्ड पड़ा होगा। शरदण्डा नदी की निश्चित पहचान नहीं हुई। सम्भव है यह शरावती का ही दूसरा नाम हो, क्योंकि दोनों नामों में शर पूर्वपद आता है। शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा मानी गई थी। इस आधार पर अनुमान होता है कि शरावती कुरूक्षेत्र की नदी थी जिसे दृषद्वती भी कहा गया है, आजकल इसका नाम चिताङ्ग है।

पाणिनि के अनुसार साल्व जनपद की तीन विशेषताएं थी – (क) यहाँ के पैदल सैनिक प्रसिद्ध थे जो साल्व पदाति कहलाते थे (अपदातौ साल्वात् ४/२/१३५)। (ख) साल्व जनपद के बैल ऐसे नामी थे कि उनके लिए भाषा में एक विशेष शब्द (साल्वक गौ) ही चल गया था। (ग) इस जनपद में लप्सी खाने का रिवाज था जो साल्विका यवागू कहलाती थी। जयपुर – बीकानेर के लोगों में आज भी लप्सी प्रिय भोजन है जो राबड़ी कहलाती है।

अश्मक ४/१/१७३

- अश्मक जनपद की राजधानी अन्य ग्रन्थों के अनुसार प्रतिष्ठान (गोदावरी के किनारे आधुनिक पैठण) थी। इससे गोदावरी के दक्षिण सह्याद्रि पर्वत –श्रंखला तक अश्मक जनपद का विस्तार ज्ञात होता है।

---

१ रामायण, अयोध्याकाण्ड ६८/१६।

कलकूट ४/१/१७३

महाभारत के सभापर्व के अनुसार कलकूट (पाणिनीय कलकूट) कुलिन्द प्रदेश में था। जब अर्जुन, भीम और कृष्ण जरासन्ध को जीतने के लिए गुप्त रूप से निकले तो यद्यपि उन्हें कुरु जनपद से पूरब जाना था तथापि पहले वे पश्चिम कुरू जाङ्गल (वर्तमान रोहतक, हिसार) की ओर गये। वहाँ से उत्तर की ओर कुरूक्षेत्र में पद्‌मसर[1] की तरफ मुड़े और आगे कालकूट जनपद पार करके तराई के साथ सटे हुए मार्ग से सरयू और गण्डक नदियां पार करते हुए मिथिला में जा पहुँचे, फिर वहां से नीचे गंगा पार कर एकदम गोरथगिरि और राजगृह गये। इस मार्ग में कालकूट ठीक टोंस (तमसा) और यमुना के प्रदेश (देहरादून, कालसी) में पड़ता है। यह यमुना की ऊपरी धारा का यामुन प्रदेश था। अथर्ववेद में हिमालय पर उत्पन्न यामुन अंजन का उल्लेख है[2] अंजन के कारण यामुन पर्वत का नाम कालकूट या काला पहाड़ होना स्वाभाविक था।

कम्बोज ४/१/१७५

पाणिनि के समय में यह एकराज जनपद था। यहाँ का राजा और क्षत्रिय कुमार दोनों कम्बोज कहलाते थे (अपत्यवाची और राजावाची प्रत्ययों का 'कम्बोजाल्लुक', सूत्र से लोप होता है)। कच्छादि ४/२/१३३, सिन्ध्वादि ४/३/६३ गणों में सिन्धु, वर्णु, गन्धार, मधुमत्, कम्बोज, कश्मीर, साल्व और कुलुन इन आठ जनपदों के नाम सामान्य हैं जो पाणिनिकृत प्रतीत होते हैं कम्बोज की ठीक पहचान भारत के पश्चिमोत्तर भूगोल के लिए महत्त्वपूर्ण है। गन्धार, कपिश वाल्हीक और कम्बोज – इन चार महाजनपदों का एक चौगड्डा था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के नक्शे में इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हिन्दुकुश के उत्तर–पूर्व

---

१. पद्‌मसर, कुरुक्षेत्र से ११२ मील और कौलग्राम से दो मील पश्चिम में प्रसिद्ध तीर्थ है। भारतीय तीर्थस्थान एवं उनकी स्थिति – पृ० १७

२. अथर्व ४/६/१०

में कम्बोज, उत्तर–पश्चिम में वाल्हीक, दक्षिण–पूर्व में गन्धार और दक्षिण–पश्चिम में कपिश था। आधुनिक 'पामीर' और 'बदख्शां' का सम्मिलित प्राचीन नाम कम्बोज जनपद था और उसी से सटा हुआ 'दरवाज' का क्षेत्र था, जिसकी पहचान डा० मोती चन्द्र ने द्वारका से की है। कम्बोज के दक्षिण में पूर्व पश्चिम फैली हुई हिन्दुकुश की ऊँची पर्वत श्रृंखला कम्बोज को भारतवर्ष से अलग करती थी।

यास्क ने लिखा है कि गत्यर्थक शवतिधातु कम्बोज देश में ही बोली जाती है (शवतिर्गतिकर्म कम्बोजष्वेव भाष्यते)। क्म्बोज या वक्षु के उद्गम प्रदेश की गल्चा नामक बोलियों मे यह विशेषता अभी तक पायी जाती है[1]।

अवन्ति ४/१/१७६

यह मध्यभारत का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

कुन्ति ४/१/१७६

भाष्य के अनुसार ४/१/१७१ के इकारान्त एकराज जनपदों में कुन्ति और अवन्ति की भी गणना थी। महाभारत के अनुसार कुन्ति अवन्ति जनपद का पड़ोसी था। उस राज्य में अश्व नदी बहती थी जो सम्भवतः चम्बल की शाखा कुमारी नदी थी।[2] सहदेव नेअपनी दक्षिण की दिग्विजय में कुन्ति देश को जीता था। यमुना और चम्बल के कॉठे में प्राचीन कुन्ति राष्ट्र (वर्तमान ग्वालियर) था, जो अब भी कोंतवार कहलाता है। पाणिनि ने कुन्ति–सुराष्ट्र, चित्ति–सुराष्ट्र, और अवन्ति–अश्मक जनपदों के नाम लोक प्रसिद्ध भौगोलिक जोड़ों के रूप में लिखे हैं जो मध्य भारत और पश्चिमी भारत में थे। ये जनपद विस्तार की दृष्टि से काफी बड़े थे। अभी तक चम्बल से टोंस तक का प्रदेश बुन्देलखण्ड की भौगोलिक इकाई के रूप में प्रसिद्ध है। पाणिनि के समय तक भाषा में कुन्ति–सुराष्ट्र और चित्ति–सुराष्ट्र ये दो प्राचीन भौगोलिक सूत्र लोकभाषा के अंग बन चुके थे।

---

१ भारतीय भाषाओ का पर्यवेक्षण भाग १० पृ० ४६८, ४७३, ४७४, ४७६, ५००–ग्रियर्सन। जयचन्द्र, भारत भूमि और उनके निवासी पृ. २६७–३०३

२ महाभारत, वन पर्व ३०८/७, वृहत्संहिता १०/१५

भौरिकि ४/२/५४

पाणिनि ने इस सूत्र में भौरिकि भक्त का नामोल्लेख किया है। वैजयन्ती कोश (पृ० ३७) के अनुसार बंगाल का समतट (दक्षिणी बंगाल) प्रदेश भौरिक कहलाता था। समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भलेख में भी समतट नाम आया है। यदि भौरिकि की समतट के साथ पहचान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही गंगा सागर के पास का यह इलाका भौगोलिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत आ चुका था।

कापिशी ४/२/९९

उत्तर पश्चिम में कापिशी का उल्लेख है, यह नगरी प्राचीन काल में अति प्रसिद्ध राजधानी थी। काबुल से लगभग ५० मील उत्तर इसके प्राचीन अवशेष मिले हैं। यहाँ से प्राप्त एक शिलालेख में इसे कपिशा कहा गया है। इसका आधुनिक नाम बेग्राम है।

रंकु ४/२/१००

पाणिनि के अनुसार रंकु देश का मनुष्य रांकवक और वहाँ की अन्य वस्तुएं रांकव या रांकवायण कही जाती थी। काशिका ने रंकु जनपद के रांकव कम्बल और रांकवायण बैल का उल्लेख किया है। इस जनपद की पहचान अनिश्चित है। सम्भवतः यह अलकनन्दा और पिण्डर के पूर्व का प्रदेश था जहाँ मल्लाजुहार और मल्लादानपुर की भाषा रंक कहलाती है[1]

काशि ४/२/११६

पाणिनि ने स्थान नामों में काशि का उल्लेख किया है। जनपद का नाम काशि था, वाराणसी उसकी राजधानी थी। अष्टाध्यायी से यह नहीं ज्ञात होता कि कोशल की भाँति काशि भी स्वतन्त्र जनपद था। मगध और कोशल में से किसी एक के साथ काशि जनपद विम्बिसार और अजातशत्रु के समय में मिला हुआ था। पाणिनि के समय काशि का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं ज्ञात होता।

---

१ भारतीय भाषा पर्यवेक्षण –ग्रियर्सन खण्ड ३ भाग १ पृ० ४७९

उशीनर ४।२।११८

पाणिनि के अनुसार उशीनर वाहीक का जनपद था।[1] काशिका में उशीनर के सुदर्शन और आह्वजाल नामक शहरों के नाम दिये हैं। पाणिनि ने उशीनर जनपद में उन स्थानों का उल्लेख किया है जिनके अन्त में कन्था शब्द आता था, जैसे – सौशमिंकथ और आह्वरकंथ। कन्था शक भाषा का शब्द था, जिसका अर्थ था नगर। महाभारत में शिबि को उशीनर का राजा कहा गया है।[2] शिबि की राजधानी शिविपुर थी जिसकी पहचान वर्तमान शोरकोट (झंग जिले की एक तहसील) से की जाती है। वहाँ विस्तृत प्राचीन अवशेष हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि रावी और चिनाब के बीच का निचला भूभाग जो मद्र के दक्षिण में था उशीनर प्रदेश कहलाता था। वह भी दो भागों में बंटा था, आजकल के भंग मघियाना वाला उत्तरी हिस्सा उशीनर जनपद था और दक्षिण में शोरकोट के चारों ओर के क्षेत्र का नाम शिबि जनपद होना चाहिए। राजनैतिक दृष्टि से कभी उशीनरों का वर्चस्व होता कभी शिबि का। दोनों का निकट का सम्बन्ध रहता था। आइन–ए–अकबरी में इस सारे क्षेत्र को शोर कहा गया है जो कि शिबिपुर के अधिक निकट है।

पाणिनि ने शिबि का नामोल्लेख नहीं किया। ज्ञात होता है कि पीछे उशीनर के स्थान पर शिबि का नाम प्रसिद्ध हो गया। भाष्य में शिबि, गान्धारि और वसाति के समान ही एक जनपद की संज्ञा है।

मद्र ४/२/१३१

मद्र जनपद प्राचीन वाहीक का उत्तरी भाग था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान आयक) नदी पर स्थित है। यह छोटी नदी जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट के

---

१. विभाषोशीनरेषु–उशीनरेषु ये वाहीक ग्रामाः – काशिका ४/२/११८
२. राजानमौशीनर शिबिम् महाभारत, वन १९४/२ द्रोण २८/१

पास से होती हुई वर्षा ऋतु में चिनाब से मिलती है।[1] पतंजलि ने वाहीक ग्रामों में शाकल का नाम लिया है। पाणिनि ने वाहीक को स्थान नाम माना है पर उसकी व्युत्पत्ति नही दी। कात्यायन ने वहिर् शब्द से ईकक् प्रत्यय जोड़कर वाहीक की सिद्धि की है। महाभारत द्रोण पर्व में वहि और हीक नामक पिशाचों (यक्षो) को यहाँ का स्थानीय देवता मानकर इस नाम की जो व्युत्पत्ति सुझाई गई है, लोक में वह कभी प्रसिद्ध रही होगी। पाणिनि के समय में मद्र जनपद के दो भाग थे—पूर्वमद्र और अपरमद्र (दिशोऽमद्राणाम्, ७/३/१३, मद्रेभ्योऽञ् ४/२/१०८)। मानचित्र देखने से पूर्वमद्र रावी से चिनाब तक और पश्चिमी मद्र चिनाब से झेलम तक का प्रदेश होना चाहिये। शाकल या स्यालकोट पूर्वीमद्र में ही पड़ता है।

वृजि ४/२/१३१

विहार प्रान्त में गंगा के उत्तर का प्रदेश वृजि कहलाता है, जहाँ विदेह लिच्छवियों का राज्य था।

कच्छ ४/२/१३३

सिन्ध के ठीक दक्षिण में कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यो को काच्छक कहा है और वहाँ के लोगों की कुछ विशेषताओं का भी सूत्र में संकेत किया है। (मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ४/२/१३४)। काशिका में इसके तीन उदाहरण हैं – (१) काच्छकं हसितम् (कच्छवालों के हँसने का ढंग); (२) काच्छकं जल्पितम् (कच्छ वालों के बोलने का ढंग); (३) काच्छिका चूड़ा (कच्छ वालों के सिर की शिखा का ढंग)।

कच्छी बोली में वाक्य के अन्तिम भाग को कुछ तरल या प्रवाहित करके बोलते हैं। कच्छ देश में लोहाने क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं। पाणिनि ने नडादिगण में नाडायन चारायण की भाँति लोह से लौहायन अपत्य अर्थ में सिद्ध किया है। ज्ञात होता है कि ये लौहायन लोहाने ही हैं। इसी गण पाठ

---

१. कनिंघम, प्राचीन भारतीय भूगोल पृ. २१२।

में सौवीर के मिमत गोत्र और उनके अपत्य मैमतायन का भी उल्लेख है। लोहाने लोग अभी तक अपने सिर के बालों का अगला आधा भाग मुण्डा हुआ रखते हैं, यही काच्छिका चूड़ा की विशेषता हो सकती है। काशिका ने इसी सूत्र के प्रत्युदाहरण में कच्छी बैलों (काच्छः गौः) का भी उल्लेख किया है। इस नस्ल के पतले सीगों वाले नाटे चञ्चल बैल अभी तक प्रासिद्ध हैं।

भारद्वाज ४/२/१४५

काशिका ने निश्चित रूप से इस सूत्र में भारद्वाज को देशवाची माना है, गोत्रवाची नहीं। पाणिनि ने भारद्वाजों की शाखा आत्रेय कही है (अश्वादिगण, आत्रेय भारद्वाजे ४/१/११०) मार्कण्डेय पुराण की जनपद सूची में भी आत्रेय और भारद्वाज साथ–साथ पढ़े गये हैं। पार्जीटर ने भारद्वाज देश की पहचान गढ़वाल प्रदेश से की है।

सिन्धु ४/३/३२

सिन्धु नद के पूर्व में सिन्ध सागर दोआब का पुराना नाम सिन्धु था। सिन्धु में उत्पन्न मनुष्य सिन्धुक कहलाता था (सिन्ध्वपकाराभ्यां कन् ४/३/३२)। सिन्धु में जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिन्धु जनपद से था उसकी संज्ञा सैन्धव होती थी। पाणिनि ने कुछ सिन्ध्वन्त नामों का संकेत किया है ७/३/१६, जिसके उदाहरण में काशिका में सक्तुसिन्धु और पानसिन्धु इन दो भागों का उल्लेख है। ये दानों नाम भोजन की स्थानीय आदतों को लेकर लोक में प्रसिद्व हुए थे। जहाँ के लोग सत्तू खाने के शौकीन थे वह भाग सक्तु सिन्धु और जहाँ के लाग पान के शौकीन थे वह पान सिन्धु कहलाने लगा। सम्भवतः ये नाम उत्तरी और दक्षिणी सिन्धु जनपद के लिए प्रयुक्त होते थे। उत्तरी सिन्धु दोआब में डेरा–इस्माइल–खाँ की तरफ आज भी सत्तू वहाँ का जातीय भोजन है। स्त्रियां सत्तू की सौगात भेजती हैं और यात्रा में यात्री सत्तू साथ बाँधकर

चलते हैं। दूसरी ओर महाभारत में सिन्धुराज जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है[1] जयद्रथ सौवीर और उसके ऊपर दक्षिण सिन्धु जनपद का राजा था। क्षीर–भोजन दक्षिण सिन्धु की विशेषता समझा जाता था।

सिन्ध्वपकाराभ्यां कन् ४/३/३२ सूत्र के अनुसार देशवाची अपकर शब्द से वहाँ का निवासी अपकरक कहलाता था। अपकर, बहुत सम्भव है कि यह स्थान भक्खर हो। सिन्धु जनद में यह दक्षिणी रास्ते का नाका था, जहाँ सिन्धु नदी पार करके प्राचीन गोमती (आधुनिक गोमल) के किनारे से गजनी को रास्ता जाता था। व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से भक्खर महत्त्वपूर्ण स्थल था।

भारतीय साहित्य में सिन्धु – सौवीर, यह दो जनपद नामों का जोड़ा प्रसिद्ध हो गया था। भौगोलिक दृष्टि से इन दोनों की सीमाएं एक दूसरे से सटी हुई थीं जैसा कि सौवीर की पहचान से स्पष्ट है।

ब्राह्मणक ५/२/७१

अष्टाध्यायी में ब्राह्मणक एक देश का नाम है। पतञ्जलि के अनुसार यह एक जनपद था। इसकी पहचान यूनानी लेखकों के ब्राखमनोई, वर्तमान ब्राह्मणावाद से ही की जा सकती है जो सिन्ध प्रान्त के मध्य में मीरपुर खास से २५ मील उत्तर है। यहाँ प्राचीन काल के विस्तृत ध्वंसावशेष हैं। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पश्चिमी जनपदों की सूची में इसे ब्राह्मणवह कहा है। यूनानी लेखक प्लूटार्क के अनुसार यहाँ के लोग दार्शनिक विद्वान् थे और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मर मिटने को तैयार रहते थे। उन्होंने आयुध जीवी संघों की तरह डटकर सिकन्दर से युद्ध किया और अपने पडोसी राज्यों को भी स्वतन्त्रता की रक्षा में युद्ध के लिए उभारा।

प्रकण्व ६/१/१५३

पाणिनीय सूत्र ६/१/१५३ प्रस्कण्व एक ऋषि का नाम है। इसी

---

१. महाभारत, द्रोण पर्व ७६/१८।

का प्रत्युदाहरण प्रकण्व है जो एक देश का नाम था (प्रकण्वो देशः काशिका)। यूनानी इतिहास लेखक हेरोडोटस ने 'परिकनिओई' नामक जाति का उल्लेख किया है जिसकी पहचान स्टेनकोनों ने फरगना के लोगों से की है। ज्ञात होता है कि प्रकण्व ही 'परिकनिओई' या फरगना का प्राचीन नाम था। इस तरह प्रकण्व देश भी मध्य एशिया के भूगोल का अंग था।

पारस्कर ६/१/१५७

ऋक्तन्त्र में पारस्कर पर्वत का नाम है (४/५/१०), किन्तु पतंजलि ने पारस्कर को एक देश का नाम कहा है। यह सिन्ध का पूर्वी जनपद थर – पारकर जान पड़ता है। थर रेगिस्तान वाची थल का सिन्धी रूप हैं। कच्छ के इरिण या रन प्रदेश के उत्तर का समस्त भू–भाग पारकर देश था।

हास्तिनपुर ६/२/१०१

दिल्ली–मेरठ का प्रदेश कुरू जनपद कहलाता था। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। अष्टाध्यायी में इसी का नाम हास्तिनपुर है।

केकय ७/३/२

केकय जनपद वर्तमान झेलम, शहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम था, जिसमें इस समय खिउड़ा की नमक की पहाड़ी है। केकय जनपद राजधानी था। वहाँ के निवासी (क्षत्रिय गोत्रापत्य) कैकेय कहलाते थे। भर्गादि गण में भी केकय का पाठ है।

अम्बष्ठ ८/३/६७

पाणिनि ने इस सूत्र में अम्बष्ठ और आम्बष्ठ इन दो नामों की अलग – अलग सिद्धि की है। पतञ्जलि के अनुसार अम्बष्ठ एक नाम था। यह जनपद राजाधानी था और इसके निवासी आम्बष्ठ्य कहलाते थे।

महाभारत के अनुसर अम्बष्ठ कौरवों की ओर से लड़े थे उनकी गिनती औदीच्यों में की गई है। अम्बष्ठों की पहचान यूनानी लेखकों के 'सम्वस्तइ' या अवस्तनोई से की जाती है। ये अत्यन्त वीर थे और चिनाब नदी के निचले भाग में बसे हुए थे।

त्रिगर्त

पाणिनि ने त्रिगर्त देश के आयुध जीवी संघों का उल्लेख किया है। रावी, व्यास और सतलज इन तीन नदी दूनों के बीच का प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसी का पुराना नाम जालन्धरायण भी था, जिसका राजन्यादिगण ४/२/५३ में उल्लेख हुआ है। अब भी त्रिगर्त काँगड़ा का प्रदेश जालन्धर कहलाता है। रावी और व्यास के संकरे नाके में होकर त्रिगर्त का रास्ता था और आज भी है। गुरूदासपुर – पठानकोट यहीं है, जहाँ से औदुम्बर गणराज्य के सिक्के मिले हैं। इस प्रदेश का वर्तमान नाम कॉगड़ा हो गया है।

इस प्रकार उत्तर में कम्बोज, दक्षिण में अश्मक पश्चिम में सौवीर और पूर्व में सूरमस इन चारों कोनों के बीच का भू–प्रदेश पाणिनि की भौगोलिक परिधि के अर्न्तगत था। इतना स्पष्ट है कि पाणिनि का परिचय प्राच्य की अपेक्षा उदीच्य के भूगोल से अधिक घनिष्ठ था।

नदी

भिद्य एवं उद्ध्य ३/१/११५ – साहित्य में अन्यत्र इनका उल्लेख नहीं मिलता, केवल कालिदास ने रघुवंश (११/८) में राम लक्ष्मण के जोड़े की उपमा देने के लिए इनका उल्लेख किया है। काशिका के उद्ध्येरावति उदाहरण से स्पष्ट है कि उद्ध्य इरावती (वर्तमान रावी) की सहायक नदी थी। जो नदी जिसमें मिलती है उन दोनों के आधार पर भाषा में नदी नामो क जोडे बनते हैं। उद्ध्य का वर्तमान नाम 'उझ' है। यह जम्मू क्षेत्र में होती हुई कुछ दूर पजाब में बहकर गुरूदासपुर जिले में रावी के दाहिने किनारे पर मिल गई है। उझ के लगभग १५ मील पश्चिम जम्मू क्षेत्र से ही बई नाम

की दूसरी नदी गुरदासपुर जिले में ही रावी में मिली है, यही प्राचीन भिद्य ज्ञात होती है। इस प्रकार से भिद्येरावति उद्ध्येरावति शब्दों का भाषा मे प्रयोग हुआ होगा।

विपाश् ४/२/७४ - पंजाब की नदियों में विपाश् (व्यास) का नाम सूत्र में उल्लिखित है। इसके किनारे के कुओं से पाणिनि का परिचय था। व्यास के दाहिने किनारे या बॉगर के कुएं पक्के होते हैं और बाएं किनारे या खादर के कुएं हर साल पानी भर जाने के बाद फसल के समय कच्चे खोद लिए जाते हैं। उनका यह भेद कुंओं के नामों में प्रकट होता था। जो टिकाऊ नाम थे उनके आदि स्वर का उच्चारण उदात्त होता था, पर व्यास के दक्षिणी किनारे के कच्चे कुओं के नामों में यह उदात्त उच्चारण अन्तिम स्वर पर पड़ता था।

सुवास्तु ४/२/७७

सुवास्तु वैदिक काल की नदी थी, यह आजकल की स्वात है। इसकी पश्चिमी शाखा गौरी नदी (पंजकोरा) है। इन दोनों के बीच में उड्डियान था जो गन्धार देश का एक भाग माना जाता था। यहीं स्वात की घाटी में प्राचीन काल से आज तक एक विशेष प्रकार के कम्बल बुने जाते आये हैं। पाणिनि ने पाण्डुकम्बल ४/२/११ नाम से उनका उल्लेख किया है। सुवास्तु और गौरी की दूनो में एक वीर जाति के लोग बसते थे जिन्हें पाणिनि ने आश्वकायन (नदादिगण ४/२/६६) कहा है। इनकी राजधानी का नाम व्याकरण साहित्य की मशकावती है। स्वात का ही निचला भाग मशकावती नदी कहलाता था जिसके तट पर पर ही मशकावती नगरी थी। सुवास्तु नदी के दक्षिण का प्रदेश जहॉ वह कुभा में मिलती है, किसी समय पुष्कल जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी पुष्कलावती थी। मशकावती की भॉंति पुष्कलावती भी व्याकरण में नदी का नाम प्रसिद्ध था। पुष्कलावती का नाम प्राचीन नदी सूची में आया है। स्वात नदी के ही निचले टुकड़े का नाम पुष्कलावती होना चाहिए। यूनानी लेखकों के अनुसार इस प्रदेश में

अस्तेनेनोई नामक लड़ाकू कबीला रहता था। पाणिनि के ६/४/१७४ सूत्र मे उसी का नाम हस्तिनायन मिलता है। वस्तुतः सुवास्तु–गौरी–कुभा–सिन्धु के बीच के प्रदेश पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर का पिछवाडा था। अपने निवास स्थान की तिल–तिल भूमि से उनका परिचित होना सवाभाविक था।

सिन्धु ६/३/६३

प्राचीन सिन्धु नद आधुनिक सिन्ध है। सिन्धु के नाम से उसके पूर्वी किनारे की तरफ पंजाब में फैला हुआ प्राचीन सिन्धु जनपद था जिसका पाणिनि ने ६/३/६३ सूत्र में उल्लेख किया है। इस समय जो सिन्धु प्रान्त है उसका पुराना नाम सौवीर था। उसका भी उल्लेख पाणिनि ने सौवीर के गोत्रों का परिचय देते हुए किया है। सिन्धु नदी कैलाश के पश्चिमी तटान्त से निकलकर कश्मीर को दो भागों में बाँटती हुई गिलगिट–चिलास (प्राचीन दरद् देश) में घुमकर दक्षिणवाहिनी होती हुई दरद् के चरणों से पहली बार मैदान में उतरती है। इस भौगालिक सच्चाई को जानकर प्राचीन भारतवासी सिन्धु के लिए 'दारदी सिन्धुः' कहते आये है। दरद् से नीचे उतरकर सिन्धु पूर्वी और पश्चिमी गन्धार की सीमा बनाती थी।

सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी कुर्रम के किनारे निचले हिस्से में बन्नू की दून है। इसका वैदिक नाम क्रुमु था। इसका ऊपरी पहाड़ी प्रदेश आज भी कुर्रम कहलाता है और निचला मैदानी भाग बन्नू। पाणिनि ने इसी को वर्णुनद के नाम से प्रसिद्ध वर्णुदेश कहा है। इसी की सीध में सिन्धु के पूरब की ओर केकय जनपद ७/३/२ था जिसमें सैन्धव (सेंधा नमक) का पहाड़ था, जो आधुनिक जेहलम, गुजरात और शाहपुर जिलों का केन्द्रीय भाग है। अपने अन्तिम भाग में सिन्धु नदी सौवीर देश में प्रवेश करती है और फिर समुद्र में मिल जाती है। यह प्रदेश सिन्धुकूल और सिन्धुवक्त्र कहलाता था।

रथस्या

पारस्कर प्रभृति गण में 'रथस्या' नाम की नदी का उल्लेख है। भाष्य में इसका रूप 'रथस्या' है। ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य में भी रथस्या आया है। महाभारत के आदि पर्व में सरस्वती और गण्डकी के बीच की सात पावन नदियों में इसका नाम 'रथस्या' है। रथस्या पंचाल देश की रामगंगा थी जो ऊपरी भाग में अब भी 'रुहुत' कहलाती है। यूनानी लेखकों के अनुसार गंगा से ११६ मील पूरब में 'रहदफ' था जो रथस्या का ही बिगड़ा हुआ रूप है। मध्य कालीन कोशों में पंचाल का पुराना नाम प्रत्यग्रंथ है। यहीं रामगंगा नदी बहती है। रथस्या और प्रत्यग्रथ का अर्थ एक सा है—जहाँ पहुँचकर रथ ठहर जायँ या पीछे मुड़ जायँ। पंचाल जनपद के लिये यह संज्ञा बढ़ते हुए आर्यो के अभियान के समय दी हुई जान पड़ती है, जब उनका रथ पंचाल भूमि में आकर रूका।

अजिरवती ६/३/११६

गंगा के काँठे की नदियों में अजिरवती का नाम अष्टाध्यायी में आया है। यही अचिरवती वर्तमान राप्ती नदी थी जिसके किनारे प्राचीन श्रावस्ती स्थित थी।

शरावती ६/३/१२०

कुरूक्षेत्र की घग्घर नदी के साथ इसकी पहचान की जाती है। यह प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा थी।

सरयू ६/४/१७४

इसका नाम अष्टाध्यायी में आता है, जिससे 'सारव' (सरय्वां भवं) विशेषण बनता है। सरयू नाम की प्रसिद्ध नदी तो कोशल जनपद में है किन्तु पश्चिमी अफगानिस्तान की हरिरूद नदी भी, जिसके किनारे हिरात बसा है, प्राचीन ईरानी भाषा में हरयू कहलाती थी जो संस्कृत सरयू का

रूप है। ईरानी सम्राट, दारा के लेखों में यहाँ के निवासी को 'हरइव' कहा है जो संस्कृत 'सारव' का रूप है।

देविका ७/३/१

इस नदी का उल्लेख ७/३/१ सूत्र में हुआ है। भाष्य में देविका के किनारे उगने वाले चावल 'दाविकाकूलाः शालयः' कहे गये हैं। देविका मद्रदेश में बहने वाली एक प्रसिद्ध नदी थी। वामन पुराण के अध्याय ८४ के अनुसर यह रावी की सहायक नदी थी , इससे इसकी निश्चित पहचान देग नदी के साथ होती है जो जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट, शेखूपुरा जिलों में बहती हुई रावी में मिल जाती है। देग नदी हर बरसाती बहिया में अपने किनारे पर रौसली (रजस्वला या बरसाती) मिट्टी की एक उपजाऊ तह छोड़ती है। आज भी उसके किनारे पर कई प्रकार के बढ़िया सुगन्धित चावल होते हैं। आज भी पंजाब में स्यालकोटी चावल प्रसिद्ध हैं जो प्राचीन मद्र के दाविकाकूल शालि ही हैं।

चर्मण्वती ८/२/१२

विन्ध्याचल की नदियों में चर्मण्वती (चम्बल) नदी का नाम इस सूत्र में है।

रूमण्वत् ८/२/१२

इस सूत्र में रूमण्वत् शब्द का उल्लेख है। काशिका के अनुसार लवण के स्थान में रूमण आदेश हाने से यह शब्द बना है। (लवण शब्दस्य रूमण्भावो निपात्यते) इसका सम्बन्ध रूमा नदी (लूणी नदी) से ज्ञात होता है जो साँभर झील से निकलती है।

धन्व

पाणिनीय धन्व शब्द का अर्थ मरूभूमि (धन्व शब्दो मरूदेश वचनः काशिका ४/२/१२१)। पतञ्जलि ने धन्वयोपधाद् वुञ् ४/२/१२१ सूत्र के प्रसंग में 'पारेधन्व' और 'आष्टक धन्व' इन दो रेगिस्तानों का नाम दिया है। काशिका में 'ऐरावत धन्व' का नाम और है। पारेधन्व का अर्थ है धन्वनः पारम् पारेधन्व (पारेधन्व षष्ठ्या वा २/१/१८) अर्थात् मरूभूमि के उस पार का देश। राजस्थान की मरूभूमि या मारवाड़ का प्राचीन नाम धन्व ज्ञात होता है। इस धन्व प्रदेश के पार पश्चिम में आज भी सिन्ध प्रान्त का पूर्वी भाग 'पारकर' कहलाता है। राजस्थान की मरूस्थली या धन्वस्थली में स्थली शब्द पाणिनि के अनुसार प्राकृतिक मैदान का वाचक है। थर पारकर, राजस्थान का थर और पंजाब में सिन्ध सागर दो—आब का रेगिस्तानी थल इन तीनों में एक ही थल या स्थली शब्द है। मरूस्थली के उस पार प्राचीन सौवीर (आधुनिक सिन्ध) से आने वाले व्यापारी सामान को 'पारे धन्वक' कहते रहे होंगे। आष्टक धन्व उत्तर — पश्चिमी पंजाब में अटक जिले का पुराना नाम ज्ञात होता है जिसे आज तक धन्नी कहते हैं। धन्नी — पोटवार भौगोलिक नामों का प्रसिद्ध जोड़ा है जिसमें रावलपिण्डी और अटक जिले शामिल हैं। रावलपिण्डी पहाड़ी और अटक रेगिस्तानी प्रदेश हैं ये दोनों ही पूर्वी गन्धार के अंग थे।

नगर और ग्राम

जनपद की भौगोलिक इकाई के अनतर्गत मनुष्यों के रहने के स्थान नगर और ग्राम कहलाते थे। इनसे भी छोटे स्थानों को घोष ६/२/८५ और खेड़ों को खेट ६/२/१२६ कहा जाता था।

पाणिनि ने कहीं तो ग्राम और नगर में भेद माना है यथा — प्राचां ग्राम नगराणाम् ७/३/१४ और कहीं ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है जैसे — वाहीक ग्रम ४/२/११७, उदीच्य ग्राम ४/२/१०६। पतंजलि ने

कहा है कि कितनी जनसंख्या होने से ग्राम और कितनी जनसंख्या से नगर कहलाते हैं इस विषय में लोक का प्रमाण मानना चाहिए। वैयाकरण के लिए इस पर विचार करना या तर्क वितर्क करना ठीक नहीं है। वस्तुतः स्थिति यह थी कि पूर्वी भारत में गाँव बहुत छोटे और नगर बड़े जन–सन्निवेश होते थे उनका जनसंख्या कृत भेद सच्चा था, इसी से पाणिनि ने भी पूर्व देश में ग्राम और नगर को पृथक् माना, किन्तु वाहीक या पंजाब में ग्राम बहुत समृद्ध जनकेन्द्र थे। यूनानी भूगोल – लेखकों ने लिखा है कि उत्तर – पश्चिम प्रदेश और पंजाब में ५०० ऐसे 'ग्राम' थे जिनकी जनसंख्या पॉच से दस सहस्र के लगभग थी। स्वयं पाणिनि की गणसूची से इस बड़ी ग्राम संख्या का समर्थन होता है। अतएव वाहीक देश में ग्राम और नगर का भेद बोलचाल में न रह गया था, वहाँ दस–दस सहस्र के नगर भी "ग्राम" ही कहे जाते थे। यही वस्तुस्थिति वाहीक ग्राम और उदीच्य ग्राम शब्दों से प्रकट होती है जहाँ ग्राम शब्द नगर और गॉव दोनों का बोध कराता है।

अवश्य ही पाणिनि ने इस प्रदेश की छान–बीन बड़े विस्तार से की थी। इधर–उधर से कुछ मनचाहा बटोर लेने की आकस्मिक शैली से पाणिनीय सामग्री का जन्म नहीं माना जा सकता । उसके पीछे भौगोलिक सामग्री का पुष्कल ब्यौरेवार सङ्ग्रह अवश्य रहा होगा। यही स्वाभाविक पद्धति पाणिनीय सामग्री की ठीक–ठीक व्याख्या करती है। इन स्थानों (गॉवों और नगरों) में रहने वालों के व्याह – बिरादरी, जाति – पॉत और व्यापारिक लेन – देन के सम्बन्ध दूर – दूर तक फैले हुए थे। वे लोग जीवन के विविध क्षेत्रों में एक दूसरे के साथ खूब गुंथ गये थे। स्थान नामों से बने हुए चातुरर्थिक शब्द नित्य प्रति की भाषा के आवश्यक अङ्ग बने हुए थे। पाणिनि ने उसी शब्द सामग्री का व्यावस्थित सूचीबद्ध संकलन किया था, अन्यथा तद्धित का वह चातुरर्थिक महाप्रकरण बन ही न पाता। उस समय के स्थान नाम वर्तमान लोकभाषा से बिल्कुल तो मिट न गये होंगे, वे परिवर्तित रूपों में आजकल के स्थान नामों में बचे पड़े होने चाहिए। इसी आधार पर पाणिनीय सामग्री की पहचान आगे बढ़ायी जा

सकती है। आचार्य के लिए छोटा या बडा कोई भी जनपद व्याकरण की दृष्टि से छोडने योग्य न था। यही बात जनपदों में बसी हुई जाति और उपजातियों के विषय में भी ठीक थी। वे जातियों और उनके अल्ल आज भी लोक में और भाषा में हिले – मिल पाये जाते है।

स्थान-नामों के अन्त में आने वाले शब्द या उत्तरपद

भारतीय स्थान नामों के अन्त में जो शब्द आते हैं उनका भी परिचय अष्टाध्यायी से प्राप्त होता है।

तीर, रुप्य ४/२/१०६

काशिका में काकतीर, पल्लवतीर और वृकरूप्य शिवरूप्य नाम मिलते हैं। पाणिनि ने स्वयं 'कास्तीर' एक नगर का नाम दिया है (६/१/१५५)। पतञ्जलि के अनुसार यह वाहीक ग्राम था।

प्रस्थ ४/२/११०, ४/२/१२२

प्रस्थान्त नाम कुरुक्षेत्र और कुरु जनपद के प्रदेश की भौगोलिक विशेषता थे। वहाँ प्रस्थ की जगह पत स्थान नामों के अन्त में पाया जाता है यथा – पानीपत, बागपत, सोनीपत आदि। ज्ञात होताा है कि प्रस्थान्त नाम मूल में हिमालय के प्रदेश में थे जहाँ से आर्यों की किसी शाखा के साथ ये इस प्रदेश में लाये गये।

वह ४/२/१२२

वहान्त नामों का पाणिनीय उदाहरण 'पीलुवह' है ६/३/१२१। काशिका में कुछ उदाहरण हैं यथा– फल्गुनीवह, ऋषीवह, पिण्डवह, मुनिवह, दारुवह। फाल्गुनीवह आधुनिक फगवाड़े (पंजाब) का नाम प्रतीत होता है।

पुर ४/२/१२२

प्राचीन स्थान नामों के अन्त में जुड़ने वाला यह महत्वपूर्ण उत्तर पद था जो अद्यावधि प्रचलित है। पाणिनि ने ६/२/१०० एवं ६/२/१०१ में

अरिष्टपुर, गौडपुर, हास्तिनपुर, फलकपुर, मार्देयपुर का उल्लेख किया है। अरिष्टपुर शिवि जनपद में शिवि क्षत्रियों की राजधानी थी, गौड़पुर गौड़ देश या बंगाल में था। हास्तिनपुर कुरू जनपद की प्रसिद्ध राजधानी था। फलकपुर सम्भवतः फिल्लोर (जनपद जलन्धर) और मार्देयपुर मण्डावर (जनपद बिजनौर) था।

कच्छ ४/२/१२६

कच्छान्त नामों का व्यवहार समुद्र तट के रेवाकाँठें से सिन्ध के नदीमुख तक प्रचलित था। काशिका में दारूकच्छ और पिप्पलीकच्छ उदाहरण मिलते है।

अग्नि ४/२/१२६

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, जलता हुआ ऊसर (संस्कृत इरिण) प्रदेश अग्नि कहलाता था। काशिका में विभुजाग्नि और काण्डाग्नि दो नाम मिलते हैं। विभुजाग्नि कच्छ भुज के उत्तरपश्चिम के बड़े रन का काण्डाग्नि उसके उत्तर पूर्व के छोटे रन (जहाँ कॉडला है) का नाम था।

गर्त ४/२/१२६

गर्त उत्तर पद वाले नाम का उदाहरण त्रिगर्त प्रसिद्ध है। काशिका में इस सूत्र पर चक्रगर्त और बहुगर्त इन भौगोलिक नामों का जोड़ा उदाहरण स्वरूप दिया है। बहुगर्त सम्भवतः साबरमती (प्राचीन श्वभ्रमती) के कॉठे का नाम था, जिसके नाम का श्वभ्र शब्द गड्ढे का पर्यायवाची है। चक्रगर्त सम्भवतः प्रभास क्षेत्र में स्थित चक्रतीर्थ सूत्र पर काशिका में वृकगर्त और श्रृगालगर्त नाम भी आये हैं।

नगर ४/२/१४२

पुर की भाँति प्राचीन स्थान नामों के अन्त में जुड़ने वाला यह महत्वपूर्ण उत्तरपद था जो कि अद्यावधि प्रयुक्त होता है। पाणिनि के अनुसार प्राच्य और उदीच्य दोनों भागों में नगर का प्रयोग होता था।

'अमहन्नवं नगरेऽनुदीचां' ६/२/८९ सूत्र में महानगर और नवनगर इन दो प्राच्य भारतीय नगरों का नाम मिलता है। कास्तीर और अजस्तुन्द नाम के नगरों का भी सूत्र में उल्लेख है। (६/१/१५१)

पलद ४/२/१४२

दाक्षिपलद और माहिकिपलद इसके उदाहरण स्वरूप काशिका में दिये हैं। अथर्ववेद के अनुसार पलद का अर्थ फूँस या पयार होता था।[1] (अथर्व ९/३/५, ७१ पलदान्वसाना)। इससे ज्ञात होता है कि सरपत के झुण्डों के लिए पलद शब्द लोक में प्रचलित था और जो गॉव उनके पास बसाये जाते थे उनके नाम में पलद उत्तरपद का प्रयोग होता था।

ह्रद ४/२/१४२

पानी की नीची दह के पास बसे हुए गाँवों के नामों में ह्रद जुड़ता था यथा दाक्षिह्रद।

अर्म ६/२/९०, ९१

ज्ञात होता है किसी समय अर्मान्त नामों का विशेष प्रचार था। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऊजड़ गाँव को अर्म कहते थे। सरस्वती के उत्तर में स्थूलार्म नामक एक ह्रद का वर्णन है जहाँ के जंगल में सौ गायों का वंश बढ़ते बढ़ते एक सहस्र हो गया था[1] पाणिनीय सूत्रों में – भूतार्म, अधिकार्म, संजीवार्म, मद्रार्म, अश्मार्म, कज्जलार्म का उल्लेख है। इस प्राचीन शब्द का प्रयोग कालान्तर में भाषा से लुप्त हो गया। हो सकता है यह मूल शब्द म्लेच्छ भाषा का हो। म्लेच्छ (सेमेटिक) परिवार की अरमाइक भाषा में 'अरम' ऊबड़–खाबड पथरीले पहाड़ी प्रदेश को कहते हैं। अरमाइक उन लोगों की भाषा थी जो अरम या पर्वतीय प्रदेशों के निवासी थे।

कूल, सूद, स्थूल, कर्ष ६/२/१२९

काशिका के अनुसार ये चार उत्तरपद स्थानवाची नामो में आते थे। कपिस्थल (करनाल जनपद में कैथल) अभी भी पुराने नाम से प्रसिद्ध

१. ताण्ड्य १५/१०/१८।

है। काबुल (कुभाकूल) और गोमल (गोमतीकूल) नामों में कूल उत्तरपद ज्ञात होता है। स्थाननाम वाची शब्दों के अन्त में सूद का उल्लेख कल्हण ने किया है जहाँ दामोदर के बसाये स्थान को दामोदर सूद कहा गया है।

सूत्रों में परिगणित स्थान नाम

जो नाम सूत्रों में पढे गये है उनकी प्रामाणिकता सर्वोपरि हे, ऐसे नामों का उल्लेख आवश्यक है।

ऐषुकारिभक्त ४/२/५४

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरु जनपद में इसुकार या इषुकार नामक समृद्ध, सुन्दर और स्फीत नगर था। जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम असिका था, उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम ऐषुकारि ज्ञात होता है, यद्यपि कुछ लोग उसका सम्बन्ध अरबी हिसार (किला) से लगाते है।

संकल ४/२/७५

यह आधुनिक सांगलावाला टीबा (जनपद झंग) है। यहॉ कठ क्षत्रियों का केन्द्र था।

सौवास्तव ४/२/७७

यह सुवास्तु या स्वात नदी की घाटी का प्रधान नगर था।

वार्णव ४/२/७७, १०३

वर्णुनद के समीप स्थित नगर की संज्ञा वार्णव थी इसकी पहचान आधुनिक बन्नू से होती है।

रोड़ी ४/२/७८

सम्भवतः रोड़ी (जनपद हिसार) जो शैरीषक (आधुनिक सिरसा) के पास है, अथवा समीपत· यह वीकानेर से १०० किमी० दूर रोणी नामक प्राचीन स्थान है।

वरणा ४/२/८२

वरण वृक्ष के समीप वसी होने के कारण इस बस्ती का नाम वरणा था। वरणा उस दुर्ग का नाम था जो आश्वकायनों के राज्य में

सिन्धु और स्वात नदियों के मध्य में सबसे सुदृढ रक्षा स्थान था। यूनानी लेखकों ने इसका नाम 'एओरनस' दिया है जहाँ अस्सकेनोई (आश्वकायन) और सिकन्दर का युद्ध हुआ था। यूनानी भूगोल लेखकों ने इस प्रदेश में तीन लड़ाकू जातियों के नाम दिये हैं जिनके संस्कृत नाम और स्थान पाणिनीय भूगोल से इस प्रकार जाने जाते है –

१. अस्पेसिओई, स्थान अलीशंग या कुनड़ नदी की दून। संस्कृत नाम आश्वायन (अश्वादिगण ४/२/११०)।
२. अस्सकेनोई या अस्सकोई, स्थान स्वात नदी की दून। संस्कृत नाम आश्वकायन या अश्वक (नडादिगण ४/१/९९)।
३. अस्तकेनोई, स्थान स्वात और कुभा के सङ्गम पर पुष्कलावती के समीप। संस्कृत नाम हास्तिनायन ६/४/१७४।

इस प्रकार कपिश से गन्धार की ओर बढ़ते हुए सिकन्दर के मार्ग में आश्वायन, आश्वकायन और हास्तिनायन, इन तीन आयुधजीवी संघो ने प्रतिरोध की अर्गला देकर उससे भयङ्कर युद्ध किया था। इनमें भी सबसे कठिन प्रतिरोध वरणा दुर्ग के वीर अश्वकों ने ही किया था जिसमें पुरूष ही नहीं स्त्रियां भी युद्ध में लड़ी थीं।

शर्करा ४/२/८३

यह सिन्धु नदी के किनारे प्रसिद्ध सक्खर नामक स्थान हे। मार्कण्डेय पुराण में जो ५८/३५ में शर्कराः जनपद का नाम आया है वह यही था।

आसन्दीवत् ४/२/८६, ८/२/१२

यह कुरूवंशी परीक्षित के पुत्र जनमेजय की राजधानी का नाम था। इसी में उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था काशिका के अनुसार यह अहिस्थल था, जो कुरूक्षेत्र के पास था।

नड्वल ४/२/८८

यह मारवाड का नाडौल नगर प्रतीत होता है।

शिखावल ४/२/८६

काशिका के अनुसार यह एक नगर था जो सम्भवतः सेन नदी पर स्थित सिहावल नगर (रीवा रियासत) हो। दन्तशिखात्संज्ञायाम् ५/२/११३ सूत्र में पाणिनि ने शिखावल को संज्ञा कहा है।

कत्रि ४/२/९५

सम्भवतः यह स्थान अल्मोड़ा जनपद का कत्यूर (कत्रिपुर) था।

कापिशी ४/२/९६

यह कापिशायन प्रान्त की राजधानी थी। काबुल से उत्तर–पूर्व हिन्दुकुश के दक्षिण आधुनिक वेग्राम प्राचीन कापिशी है जो घोरबन्द और पंजशीर नदियों के संगम पर स्थित थी। वाल्हीक से वामियान होकर कपिश प्रान्त (कोहिस्तान – काफिरिस्तान) में घुसने वाले मार्ग पर कापिशी नगरी व्यापार और संस्कृति का केन्द्र थी। बेग्राम में मिले हुए एक शिलालेख में कपिशा नाम आया है। यहाँ बनी हुई कापिशायन मधु नामक विशेष प्रकार की सुरा भारतवर्ष में आती थी जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। प्लिनी के अनुसार छठीं शताब्दी ई० पू० में हखामनि वंश के ईरानी सम्राट् कुरूष् (५५८ – ५३० ई० पू०) ने कापिशी का विध्वंस किया था। कालान्तर मे वह पुनः समृद्ध हुई और अन्त में हूणों द्वारा विध्वंस हुई। कापिशी नगरी के सिक्कों पर हाथी का चिह्न पाया गया है जो इन्द्र का ऐरावत ज्ञात होता है, क्योंकि यहाँ के उत्तरकालीन कुछ सिक्कों पर यूनानी देवता 'जिपस' (भारतीय इन्द्र) की मूर्ति मिली है।

तक्षशिला ४/३/९३

यह पूर्वी गन्धार की प्रसिद्ध राजधानी थी और सिन्धु एवं विपाश के बीच के सब नगरों में बड़ा और समृद्ध था। पाटलिपुत्र, मथुरा और शाकल को पुष्कलावती, कापिशी और वाल्हीक से मिलाने वाले उत्तरपथ नामक राजमार्ग पर तक्षशिला मुख्य व्यापारिक नगरी थी। पाणिनि काल से हूणों के समय तक तक्षशिला का प्राधान्य बना रहा।

शलातुर ४/३/६४

पाणिनि का जन्म स्थान, जो सिन्धु – कुभा संगम के कोने में ओहिन्द से चार मील पश्चिम मे था। यह स्थान इस समय लहुर कहलाता है।

कूचवार ४/३/६४

यह चीनी तुर्किस्तान मे उत्तरी तरिम उपत्यका का नाम था, जिसका आधुनिक नाम कूचा है। चीनी भाषा में आजकल इसे कूची कहते हैं। कूचा से प्राप्त अभिलेखों में कूचा के राजाओं को कूचीश्वर, कूचि महाराज, कौचेय, कौचेय वरेन्द्र कहा गया है। कूचा बहुत प्राचीन राज्य था। चीन से पश्चिम जाने वाले रेशम पथों पर कूचा प्रसिद्ध केन्द्र था। चीनी यात्री तुरफान से कूचा होकर काशगर आते थे। काशगर से कम्बोज (पामीर) और बाल्हीक (बल्ख) होते हुए भारतवर्ष में प्रवेश करते थे। कूचा या मध्येशिया से कौचप या कोजव नामक ऊनी वस्त्र आया करते थे।

कास्तीर और अजस्तुन्द ६/१/१५५

पतञ्जलि ने कास्तीर को वाहीक ग्राम कहा है।

घोष ६/२/८५

अहीर ग्वालों का छोटा गाँव घोष कहलाता था।

महानगर और नवनगर ६/२/८६

ये दोनों प्राच्य भारत के स्थान नाम थे (अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम्)। महानगर महास्थान (जिला बोगरा) का दूसरा नाम जान पड़ता है, जो बंगाल में मौर्य काल से भी पुराना नगर था। उसी के साथ का नवनगर नवद्वीप का दूसरा नाम विदित होता है। महानगर उत्तरी बंगाल और नवनगर पश्चिमी बंगाल का प्रधान केन्द्र था। महानगर पुरानी राजधानी थी। यह पुण्ड्र देश का प्रधान नगर था, इसीलिए इसे महास्थान या महानगर कहा गया। इसी के पश्चिम में गंगा के किनारे एक अन्य स्थान की आवश्यकता पड़ी जो पुण्ड्र देश के यातायात में सहायक हो सके। यह

स्थान गौड़पुर था जिसका पाणिनि ने ६/२/१०० में उल्लेख किया है। पुण्ड्र या पौण्ड्र के देश से गुड के चालान का केन्द्र होने के कारण वह गौड पुर कहा गया होगा। कुछ समय पश्चात् पश्चिम बंगाल में भी व्यापार और आबादी के लिए क्षेत्र खुल गया और वहाँ एक नये केन्द्र की स्थापना हुई होगी जो उत्तरी बंगाल की तुलना में नवनगर कहा गया।

अरिष्टपुर ६/२/१००

बौद्ध साहित्य के अनुसार यह शिबि जनपद का अरिष्टपुर नाम का नगर था।

गौड़पुर ६/२/१००

काशिका में इसी सूत्र पर दिये हुए गौड़भृत्यपुर उदाहरण से यह संकेत मिलता है कि गौड़पुर और गौड़भृत्यपुर दोनों प्राच्य देश के नगर थे।

हास्तिनपुर ६/२/१०१

वर्तमान हस्तिनापुर जनपद मेरठ।

फलकपुर ६/२/१०१

सम्भवतः वर्तमान फिल्लौर जनपद जलन्धर था।

मार्देयपुर ६/२/१०१

सम्भवतः मण्डावर जनपद बिजनौर, जो अति प्राचीन स्थान है।

चिहणकन्थ ६/२/१२५

यह उशीनरदेश में कन्थान्त नाम का नगर था।
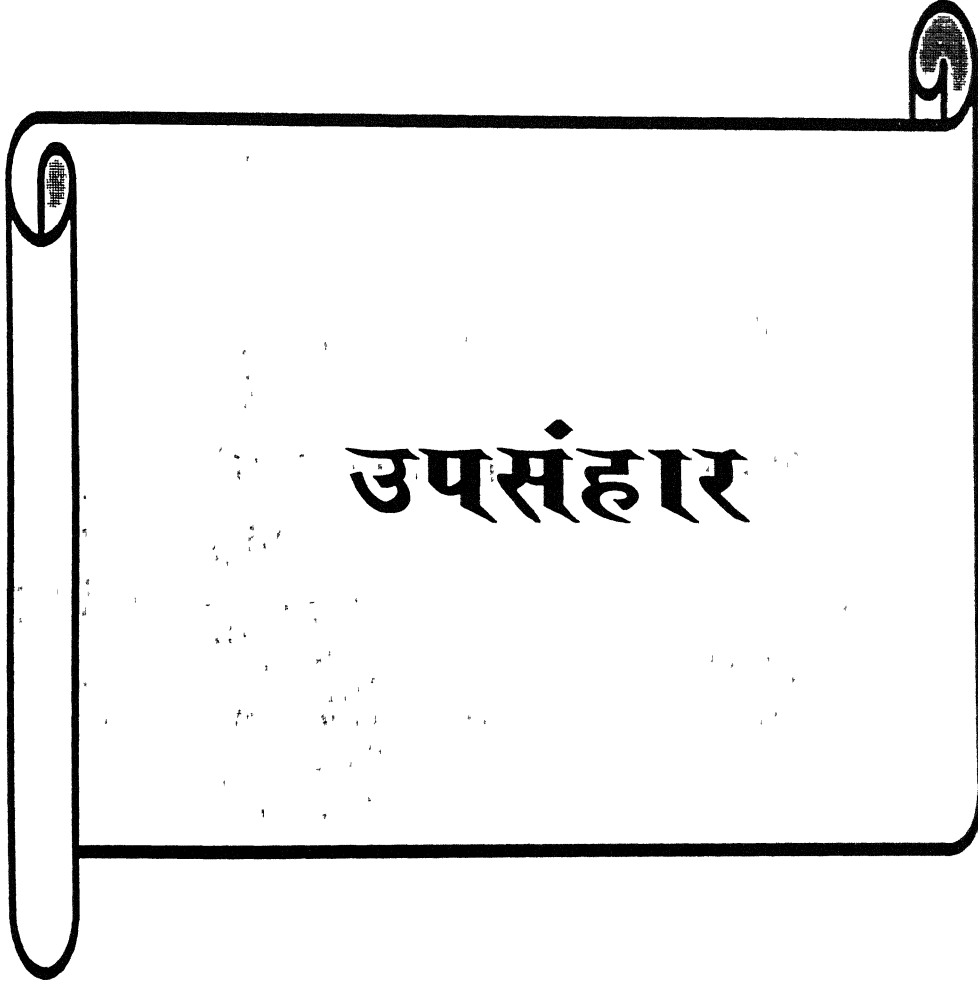
उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध 'पाणिनि प्रोक्त समाजव्यवस्थपरक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन' सात सोपानो में निबद्ध है, जिसे आवश्यकतानुसार उपशीर्षक में विभक्त किया गया है।

प्रथम सोपान व्याकरण शास्त्र की परम्परा तथा आचार्य पाणिनि का जीवन चरित एवं काल निर्धारण है। व्याकरण शास्त्र की परम्परा के अन्तर्गत व्याकरण की परिभाषा एवं निष्पत्ति– "व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयोऽनेन अस्मिन् वा तद् व्याकरणम्" (वि+आङ्+कृ+ल्युट्) बताया गया है। व्याकरण क्यों पढ़ना चाहिये, व्याकरण की उत्पत्ति एवं प्राचीनता भी इसी सोपान के अन्तर्गत विवेचित है। संस्कृत वाङ्मय में इतस्ततः विकीर्ण व्याकरण विषयक सामग्री, यास्क के निरुक्त, वेदों के विभिन्न प्रातिशाख्यों तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी में उद्धृत अनेक वैयाकरणो के विविध मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य पाणिनि से पूर्व वैयाकरणों की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। वैयाकरणों को तीन श्रेणियों में– पूर्व पाणिनीय, पाणिनीय एवं उत्तर पाणिनीय में विभक्त किया गया है।

इसी सोपान के अन्तर्गत पाणिनि के जीवन से सम्बन्धित सामग्री पर विचार किया गया है। इसमें चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पाणिनि के जन्म स्थान शलातुर से जो जानकारी प्राप्त की थी उसका पतञ्जलि की सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन है। इस अध्ययन से पाणिनि का जो चित्र प्राप्त होता वह एक ऐसे मेधावी और प्रतिभासम्पन्न आचार्य का चित्र है जिसने शब्दशास्त्र के प्रति अपने कर्तव्य को पहचाना था, और उसकी पूर्ति के लिये समुचित प्रयत्न किया था।

द्वितीय सोपान अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों में परिलक्षित राजनीतिक जीवन में एकराज जनपद और संघों के सम्बन्ध में सामग्री का विवेचन है।

ऐतिहासिक दृष्टि से पाणिनि की सबसे महत्त्व पूर्ण सामग्री जनपद संस्था पर नया प्रकाश डाला है। यूनान देश के इतिहास मे जो महत्व पुर राज्यों का था वही भारतीय इतिहास में जनपदों का था। सच तो यह है कि भारत में जनपद राज्यों का प्रयोग देशकाल में उससे भी अधिक व्यापक और गम्भीर परिणाम वाला हुआ। एकराज और संघ दो प्रकार के जनपदों में भारतीय संस्कृति की मूल प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय एकरूपता का विकास जनपदो में हुआ। पाणिनि के युग मे संघो का बाहुल्य था। लोक में संघ आदर्श का सर्वोपरि प्रचार था, यहॉ तक कि गोत्र, चरण, श्रेणि, निगम आदि सामूहिक संस्थाओं के संगठन और कार्यविधि की प्रेरणा संघ आदर्श से ही प्राप्त की जाती थी। तत्कालीन युग में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तन्त्र थे। राजा के लिये ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्दों का प्रयोग होता था। राजा की मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त बड़ी सभा राजसभा कहलाती थी। वैदिक युग में जिन रत्नी नामक अधिकारियों को राजकृतः कहा जाता था पाणिनि ने उनके लिये राजकृत्व शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का भी उल्लेख किया है– सामाजिक परिषद्, चरणों के अन्तर्गत विद्या सम्बन्धी परिषद्, मन्त्रिपरिषद्। जो राजा परिषद् के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे, उनके लिये 'परिषद्वलो राजा' यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था। भारतीय राजतन्त्र में पट्टमहिषी या महिषी की वैधानिक स्थिति थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के साथ उसका भी महाभिषेक किया जाता था। शासन उपशीर्षक के अन्तर्गत शासनतन्त्र के अधिकारी यथा– अध्यक्ष, युक्त, कारकर और क्षेत्रकर आदि का तथा आयस्थान, शौण्डिक का भी विवेचन किया गया है। सेना उपशीर्षक के अन्तर्गत सेनानी, शस्त्रास्त्र, परिष्कन्द के बारे में भी शोध किया गया है। आयुधजीवी संघ, पर्वतीय संघ श्रेणी पूग को भी विवेचित किया गया है।

तृतीय सोपान 'अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित समाज' मे सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित लगभग उन सभी बिन्दुओं को विवेचित

करने का प्रयास किया गया है जो सामाजिक जीवन के अंग हैं। वर्ण एव जाति शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्रह्मचर्य की अवधि, ब्राह्मण सभी का विस्तृत विवेचन है। 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' सूत्र में बन्धुनि पद ब्रह्मबन्धु वाले प्राचीन अर्थ–कुत्सापरक व्यंग्य का द्योतक है। जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहचान हो वह बन्धु हुआ। लूटमार कर जीविका चलाने वाले जंगली हालत में आर्यावर्त की सीमाओं पर बसे हुए उत्सेधजीवी लोग पाणिनि के समय में व्रात कहलाते थे। स्त्री एवं विवाह उपशीर्षक के अन्तर्गत 'स्वकरण' शब्द को व्याख्यायित किया गया है। पाणिनि ने विवाह के लिये उपयमन १/२/१६ शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या स्वकरण शब्द से इस सूत्र में की गई है। सामाजिक संस्थायें उपशीर्षक के अन्तर्गत ज्ञाति, वश, संयुक्त, सगोत्र, सपिण्ड, कुल, अतिथि, मित्र, सनाभि, पारिवारिक सम्बन्धी जनों आदि सभी शब्दों की व्याख्या की गई। नाभि का अर्थ गर्भनाल से समझना चाहिये। वस्त्र एव अलंकार उपशीर्षक के अन्तर्गत वस्त्रों के विविध प्रकार– प्रावार, कम्बल, वृहतिका आदि की व्याख्या की गई है। ग्रैवेयक, अंगुलीय, कर्णिका, ललाटिका, इन चार गहनों का सूत्रों में उल्लेख है। परिवहन उपशीर्षक के अन्तर्गत तत्कालीन समाज के आने–जाने के साधनो का विवेचन है– रथ, भस्त्रा, शकट, आश्वीन आदि। रथ विशेषकर मनुष्यो के आने जाने का यान था। रथों का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था। सेना में भी रथों का उपयोग होता था। रथ कई प्रकार के होते थे, जिनका नामकरण खींचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था। खीचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य कहा गया है। इतर साहित्य मे इन दोनों को वाहन अर्थात् सवारी भी माना गया। काशिका में रथ मॅढने के तीन उदाहरण हैं– वास्त्र, काम्बल, चार्म। 'प्राध्यव बन्धने' गाड़ी और रथों के बनाने में अन्तिम प्रक्रिया थी जिसके द्वारा उन्हें रस्सी या डोरियों से कसा जाता था। भिन्न प्रकार के मार्गों में कौटिल्य ने रथ पथ का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसका अर्थ है कि वह रथ जो ऊबड–खाबड़ रास्ते पर भी ठीक ढंग से चले।

चतुर्थ सोपान 'अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित आर्थिक जीवन' में आर्थिक दशा का विवेचन है। इसमें शिल्प, वेतन, भृत्ति वाणिज्य व्यवसाय, नापतोल, ऋणदान इन विषयों की सामग्री पर विचार किया गया है। इनमें पाणिनि कालीन सिक्को की जानकारी भारतवर्ष की प्राचीन आहत मुद्राओं पर नया प्रकाश डालती है। पुरातत्त्व के क्षेत्र में जो सबसे पुराने सिक्के मिले हैं उनमें से अनेकों के नामों की पहचान पहली ही बार अष्टाध्यायी की सामग्री से हो सकी है। सूत्र और उनकी टीकाओं में विंशतिक, त्रिंशत्क, अर्धभाग, शाण, शतमान आदि सिक्कों का परिचय प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में कराया गया है। गोधन के स्वामित्व की सूचना के लिये गायों के कानो पर अंकित किये जाने वाले लक्षणों का विवेचन किया गया है। इस देश में कृषि सम्बन्धी शब्दावली की जो परम्परा ऋग्वेद से चली आती है, इस विषय में खेतों के नामकरण, बुवाई, जुताई, लवनी, मणनी आदि के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विस्तृत रूप से विवेचन है। क्षेत्रकर 'खेत बनाने वाला' यह उस अधिकारी की संज्ञा थी जो खेतो की नाप जोख करता था। वर्षा के पूर्वभाग के लिये 'प्रावृट्' विशिष्ट शब्द। उमा और भांग अलसी और मांग के खेतों का भी उल्लेख है। कौटिल्य ने इसकी जगह अतसी एवं शण कहा है। 'सीता' हल की कूँड़ या फाड़ के लिये प्रयुक्त हुआ है। ब्रीहि एवं शालि के खेत भी पृथक् होते थे जो ब्रैहेय एवं शालेय नामों से जाने जाते थे।

पञ्चम सोपान 'अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित धर्म एवं दर्शन' मे धर्म एवं दर्शन का विवेचन है। यज्ञ, ऋत्विज्, दक्षिणा एवं देवता तथा उनकी भक्ति से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री सूत्रों में आ गई है। यज्ञ उपशीर्षक के अन्तर्गत याज्ञिक, यजमान, आस्पद, यज्ञाख्या, सोम, अग्न्याख्या, वेदियां, यज्ञार्थ उपकरण, यज्ञ पात्र, ऋत्विक्, विशेषज्ञ, ऋत्विक् संख्या, ऋत्विजों के पृथक् कर्म, मन्त्रकरण, उपयज्, दक्षिणा, स्रौव सम्बन्ध आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। देवता उपशीर्षक के अन्तर्गत देवताओं, उत्तरकालीन देवता, भक्ति, मूर्तियों आदि का भी विवेचन किया गया है।

मूर्तियों को जिनमें देवमूर्तिया भी सम्मिलित है, प्रतिकृति कहा गया है। इसी अर्थ में 'अर्चा' इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है। मूर्ति रखने वाला पुजारी अर्चावान् या आर्य कहलाता था। धार्मिक जीवन में चान्द्रायण आदि व्रतों का समावेश हो चुका था, जिसने अपने जीवन में चान्द्रायण व्रत किया हो वह चान्द्रायणिक नाम से प्रसिद्ध होता था– चान्द्रायणं वर्तयति ५/१/७२। श्राद्ध में भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाती था। कात्यायन ने कहा है कि जिस दिन श्राद्ध भोजन किया हो उसी दिन के लिये यह विशेषण था। यदि आज किसी ने श्राद्ध खाया तो कल उसी को श्राद्धी नहीं कहा जाता था। ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन में लोगों का विश्वास था। यह भी मान्यता थी कि कुछ विशिष्ट दिन पवित्र होते हैं, उन्हें पुण्याह या पुण्यरात्र कहते थे। उस युग में दार्शनिक या तत्त्व चिन्तकों के विचार के लिये बौद्ध और जैन साहित्य में दिट्ठियो का वर्गीकरण किया है, जो जितना ही संक्षिप्त है उतना ही मूलभूत और तात्त्विक है। इन्द्र के लिये वृत्रहन्, मरुत्वत् और मघवन् के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी ४/२/२६ सूत्र मे उल्लिखित है। परलोक के लिये पाणिनि ने निःश्रेयस् शब्द का उल्लेख अपने ५/४/७७ सूत्र में किया है। उपनिषद् युग का मोक्ष परमानन्द के लिये नया शब्द था। अष्टाध्यायी में निर्वाण शब्द का भी उल्लेख आया है।

षष्ठ–सोपान 'अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों में परिलक्षित शिक्षा एवं साहित्य' में तत्कालीन शिक्षा एवं साहित्य का विवेचन है। पाणिनीय व्याकरण की रचना भाषा और साहित्य के क्षेत्र में पूर्ववर्ती दीर्घ विकास और उन्नति की सूचक है। उस उन्नति के मूल में वह सुन्दर शिक्षा प्रणाली थी जो महाफलवती हुयी। नियमों का उल्लंघन करने वाले छात्रों की निन्दा के लिये कई शब्द प्रयुक्त होते थे जैसे– तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक। शिक्षा उपशीर्षक के अन्तर्गत गुरु, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, अध्यापक, अध्याय आदि का विवेचन है। पाणिनि ने चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है। १. आचार्य, २. प्रवक्ता, ३. श्रोत्रिय, ४. अध्यापक। उपरोक्त मे आचार्य का स्थान सर्वोच्च था। आचार्य के बाद प्रवक्ता का स्थान था। पाणिनि ने जिसे प्रोक्त साहित्य

कहा है अर्थात् शाखा ग्रन्थ, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि उस साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। छन्द या वेद की शाखाओ को कण्ठ करने वाला विद्वान् श्रोत्रिय कहलाता था। स्त्री शिक्षा, चरण, छात्रो के नामकरण, वैदिक छात्रों का नामकरण, तद्विषयता का नियम आदि का विवेचन इस सोपान में किया गया है। पारायण विधि द्वारा वेद, वेदाङ्गो का कण्ठस्थ कर लेना शिक्षण विधि का एक अंग था, इससे तत्कालीन ज्ञान—साधन के यत्नों का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदों को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से सन्तुष्ट हो जाने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी। आचार्य के जीवन पर छत्र के समान जो छाया रहता था उसे छात्र कहते थे। छात्र दो प्रकार के होते थे— १. दण्डमाणव, २. अन्तेवासी।

साहित्य उपशीर्षक के अन्तर्गत प्रकथन, लिपिकर, इष्ट आदि शब्दों का विस्तार से वर्णन है। एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है। यह एक प्रकार की आशु कविता थी। पाणिनि ने पशुओं के कान पर स्वामित्व के ज्ञापक कुछ चिह्न अंकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है। कई चिह्नों में अष्ट और पञ्च भी हैं। साहित्यिक रचना के लिये जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है उसका सकेत करते हुए सूत्रकार ने अपने समकालीन साहित्य का वर्गीकरण किया था। उन्होंने समस्त साहित्य को इष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यान इन रूपो में विभक्त कर दिया।

सप्तम सोपान 'अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित भूगोल' मे तत्कालीन भौगोलिक सामग्री का अध्ययन किया गया है। अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द सामग्री का सञ्चय किया उसमें देश, पर्वत, वन, नदियां, प्रदेश, जनपद, नगर, ग्राम इनसे सम्बन्धित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री का संग्रह सूत्रकार की मौलिक सूझ थी। भौगोलिक

सीमा विस्तार के अन्तर्गत देश एवं जनपद उपशीर्षक के द्वारा सूत्रों मे पठित निश्चित स्थान नामो की सहायता से पाणिनि कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। सूत्रकाल मे 'जनपद' भारतीय भूगोल का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में युग विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण महाजनपद युग है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे मद्रकार, सौवीर, गन्धार, मगध, सूरमस, कलिंग, कोशल, अजाद, कुरू, प्रत्यग्रथ, साल्व और युगन्धर एवं अन्य जनपदों की पहचान की गई है। इसके अतिरिक्त अश्मक, कलकूट, कम्बोज, अवन्ति, कुन्ति, भौरिकि, कापिशी, काशि, उशीनर, मद्र, वृजि, कच्छ, भारद्वाज, रंकु, सिन्धु, ब्राह्मणक, केकय, अम्बष्ठ, त्रिगर्त आदि देश जनपदों की भी स्थिति निश्चित करने का प्रयास किया गया है। नदी उपशीर्षक के अन्तर्गत भिद्य एवं उद्ध्य, विपाश, सुवास्तु, सिन्धु, रथस्या, अजिरवती, शरावती, सरयू, देविका, चर्मण्वती, रूमण्वत् आदि की भी पहचान करके व्याख्या की गई है इसके अतिरिक्त धन्व, नगर एवं ग्राम उपशीर्षक के अन्तर्गत व्याख्यायित है।

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अष्टाध्यायी, महर्षि पाणिनि, सम्पादक एस.सी वासु खण्ड १,२ मोतीलाल, वनारसी दास १९६२।

२. अष्टाध्यायी – पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु– प्यारेलाल कपूर अमृतसर, पञ्जाब।

३. अष्टाध्यायी सूत्र पाठ– सम्पादक, शिवप्रसाद द्विवेदी, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली १९६३।

४. अमरकोश– टीकाकार पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी १९६८।

५ अर्थशास्त्र– निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

६ अर्थशास्त्र– गीता प्रेस गोरखपुर।

७. अथर्ववेद सहिता– स्वाध्याय मण्डले सतारा १९५६।

८. अथर्ववेद मे सांस्कृतिक तत्त्व– पञ्चनद प्रकाशन इलाहाबाद सन् १९६२।

९ अंगुत्तर निकाय– पालिटेक्स्ट प्रकाशन।

१०. अविमारक– भास– चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी।

११. आपस्तम्ब– ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना सं. १९५४।

१२. ऋग्वेद प्रातिशाख्य– सम्पादक मैक्समूलर १८७०।

१३. ऋग्वेद संहिता– सायण भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल पूना सन् १९३६।

१४. ऐतरेय ब्राह्मण– डा. सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन वाराणसी १९७२।

१५. ऐतरेय आरण्यक– सायण भाष्य आनन्द आश्रम पूना १९६६।

१६. काशिका (सटिप्पण प्रकाश हिन्दी व्याख्योयेता) व्याख्याकार– श्रीनारायण मिश्र चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी १६६६।

१७. काशिका वृत्ति (न्यास पद मञ्जरी सहित) सम्पादक– द्वारका दास शास्त्री (प्रथम भाग) प्राच्य भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, १६६५।

१८. कामसूत्र– जयमंगला टीका चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी।

१६. कामसूत्र– वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई सं १६६७।

२०. गोपथ ब्राह्मण– राजेन्द्र लाल इण्डोलाजिकल बुक हाउस वाराणसी सन् १६७२।

२१. गोभिल गृह्यसूत्र– उदयनारायण सिंह मुजफ्फरपुर, संवत् १८६०।

२२. गीता रहस्य– तिलक, बाल गगाधर– स्वाध्याय मण्डल सतारा।

२३. चरक संहिता– आयुर्वेद दीपिका चक्रपाणि प्रकाशन नामनगर संस्करण।

२४. चरक संहिता– दुर्गाशंकर शास्त्री की टीका चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी।

२५. छान्दोग्य उपनिषद्– ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना सं. १६६८।

२६. तैत्तिरीय उपनिषद्– महादेव चिमणाजी आप्टे आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना १६६२।

२७. तैत्तिरीय ब्राह्मण– चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी।

२८. दीघ निकाय– पालि टेक्स्ट प्रकाशन।

२६. पाणिनि परिचय– वासुदेव शरण अग्रवाल– चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी १६६५।

३०. पाणिनि कालीन भारत वर्ष– वासुदेव शरण अग्रवाल– चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी १६६६।

३१. प्राचीन भारत का इतिहा एवं संस्कृति– डा. के.सी. श्रीवास्तव, यूनाइटेड बुक डिपो इलाहाबाद १९९१।

३२. प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास– जयशङ्कर मिश्र दिल्ली।

३३. प्राचीन भारत का इतिहास– झा, श्रीमाली हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय १९८१।

३४. प्राचीन भारतीय कला– अभिनव सत्यदेव, मूलचन्द प्रकाशन दिल्ली दरवाजा फैजाबाद १९९३।

३५. प्राचीन भारतीय सस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन– ईश्वरी प्रसाद, मीनू पब्लिकेशन इलाहाबाद, १९८४।

३६. प्राचीन भारत मे आर्थिक जीवन– रोमिला थापर, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली।

३७. प्राचीन भारत का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास– एम.पी. श्रीवास्तव सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद १९८८।

३८. प्रमुख प्राचीन भारतीय तीर्थस्थान एवं उनकी स्थिति– ए.जी चन्द्रन– इण्डियन प्रेस मद्रास १९९९।

३९. बृहदारण्यक उपनिषद्– एक समीक्षात्मक अध्ययन– डा. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली II Ed।

४०. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक सार– गीता प्रेस गोरखपुर।

४१. भारत भूमि और उनके निवासी– जयचन्द्र, शिवम् पब्लिकेशन, दिल्ली।

४२. भारतीय भाषाओ का पर्यवेक्षण– ग्रियर्सन– ओरिण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।

४३. भारत का वृहत् इतिहास Vol. I – मजूमदार, रायचौधरी, दत्त मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड १९५४।

४४. भारतीय वास्तुशास्त्र— वास्तुविद्या एवं पुरानिवेश लखनऊ १६५५।

४५. भारतीय तीर्थस्थल— शान्तानन्द आश्रम हरिद्वार १६३५।

४६. मनुस्मृति व्याख्याकार, जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे भारतीय विद्याभवन चौपाटी बम्बई १६७५।

४७. मनुस्मृति— ओरियण्टल संस्कृत टेक्स्ट, ट्रयूबनर एण्ड को लन्दन १८८७।

४८. महाभारत— एस के. बेलवलकर भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना।

४६. महाभारत श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल सतारा सं. २०११।

५०. मैत्रायणी संहिता— बॉके बिहारी प्रकाशन आगरा सं. १६८६।

५१. यजुर्वेद भाष्य— वैदिक यन्त्रालय अजमेर सम्वत् २०१७।

५२. याज्ञवल्क्य स्मृति— आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि पूना सं. १६०३।

५३. याज्ञवल्क्य स्मृति— वेकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई १८१६।

५४. याज्ञवल्क्य स्मृति— जनार्दन शर्मा निर्णय सागर प्रेस बम्बई सं. १८०३।

५५ रामायणम्— श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल सतारा स. २०११।

५६. रामायण— वाल्मीकि प्रेस कलकत्ता।

५७. रामायण— टीकाकार, श्रीनिवास कट्टिशास्त्री परिमल पब्लिकेशन दिल्ली सं. १६८३।

५८. रामचरित मानस— गीता प्रेस गोरखपुर।

५६. रघुवंशम्— मोतीलाल वनारसी दास।

६०. लघु सिद्धान्त कौमुदी– भैमी व्याख्या, भैमी प्रकाशन दिल्ली १६८८।

६१. लघु सिद्धान्त कौमुदी– श्रीधरानन्द शास्त्री मोतीलाल बनारसी दास १६७७।

६२. लघु सिद्धान्त कौमुदी– आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद १६८५।

६३. लघु शब्देन्दु शेखर– नागेशभट्ट व्याख्याकार, वेंकटेश्वर शास्त्रि श्रीविद्या मुद्रणालय कुम्भकोणम् १८४१।

६४. वाक्यपदीय– (श्री पुष्पराजकृत प्रकाशाख्य टीकापुतम्)– व्रजविहारी दास & को. बनारसी १८८२।

६५ व्याकरण महाभाष्य– अनुवादक एवं टिप्पणी लेखक– डा. अवनीन्द्र कुमार, रतिराम शास्त्रि मेरठ।

६६. वाल्मीकि रामायण कोश–' रामकुमार राय– चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी १६६५।

६७ वाजसनेयि संहिता– स्वाध्याय मण्डल सतारा सं. १६६१।

६८. वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास– चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी १६६५।

६६. शतपथ ब्राह्मण– सायण भाष्य– वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई सन् १८४०।

७०. संस्कृत भाषा– टी बरो. अनुवादक डा. भोलानाथ व्यास, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी प्रथम संस्करण १६६५।

७१ संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका– डा. बाबूराम सक्सेना,

७२ संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन– डा. भोलानाथ व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १६५७।

अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थ

73. Dheeme - Panini and Vedas - London 1935.

74. Goldstucker, Theodore - Panini Edited by S.N. Shastri Chowkhambha Sanskrit Series Varanasi.

75. Bulletin of Deccan College Research Institute Poona.

76. Bulletin of Sanskrit Institute Trivendrem.

77. Proceedings of All India Oriental Conference.